Year 1, Issue 2
April-June, 2004

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

# वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष १ - अंक २, अप्रैल-जून २००४

# वसुधा
## संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर


| शीर्षक | रचयिता | पृष्ठ |
|---|---|---|
| संपादकीय | | २ |
| मन की राधा | डॉ. अम्बाशंकर नागर | ३ |
| प्यार का बूढ़ा पखेरू | डॉ. अम्बाशंकर नागर | ३ |
| फागुनी गीत | डॉ. गिरीश रस्तोगी | ३ |
| कन्हैया राजा होरी खेलें | डॉ. प्रेम जनमेजय | ४ |
| परिणाम | पाराशर गौ | ६ |
| बेरहम आँधियाँ | सरन घई | ६ |
| गीत | प्रो. भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' | ६ |
| दीपू | ममता खरे | ७ |
| सुबह से सुबह तक | गुणानंद थपलियाल | १० |
| हितैषी | मधुप शर्मा | ११ |
| खूबसूरत यादें | अंशु चक्कू | १७ |
| आम्र बौरों में लौटूँगा | डॉ. परेश | १८ |
| तुम्हारा प्यार | डॉ. किशोर काबरा | १८ |
| मानवता का मेरुदंड है संस्कृति | डॉ. वीरेन्द्र कुमार वसु | १९ |
| प्यार | डॉ. भगीरथ ब ोले | २० |
| तीन नाम | बनाफर चन्द्र | २१ |
| मैं नहीं पीता | शांतिस्वरूप सूरी | २५ |
| नाम भर को हूँ नदी | सूर्यकांत नागर | २६ |
| अपरिमेय हर कोंण है... | जय चक्रवर्ती | २६ |
| जब आती है साली घर हमारे | डॉ. शंकर पुणतांबेकर | २७ |
| भगवान बुद्ध के दो प्रमुख शिष्य | डॉ. चतुर्भुज | ३० |
| माँ | डॉ. सुशील कुमार फुल्ल | ३१ |
| अपने हिस्से का सच | सुधा गोयल | ३२ |
| लालच और नाक | स्नेह ठाकुर | ३५ |
| होली के चित्र (छंद) | सुभाष ऋतुज | ३८ |
| गाँठ | अक्षय गोजा | ३८ |
| दुर्दशा | डॉ. राम केवल शर्मा 'मुनि जी' | ३९ |
| गृहिणी | डॉ. सरला अग्रवाल | ४५ |
| मुझको उससे प्यार है | डॉ. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि | ४६ |
| परिपूर्णता | डॉ. सुषम बेदी | ४६ |
| आँसू | डॉ. उषादेवी कोल्हटकर | ४६ |
| हम हैं पहरेदार | डॉ. मीना पंड्या | ४६ |


रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada

## संपादकीय (अंक २, अप्रैल-जून २००४)

होली रे होली, आ गयी होली।

इन्द्रधनुषी रंगों का त्योहार है होली। भाईचारे का त्योहार है होली। मानवीय मूल्यों का पर्व है होली। सौहार्दता का पर्व है होली। एक ऐसा पर्व जब आप अगली-पिछली वैमनस्यता भुलाकर, कलुषता को धो, एक-दूसरे को मन-भावन विभिन्न रंगों से रंग देते हैं; अंग-अंग प्यार की फुआर से भिगो देते हैं। पाप, छल-कपट होलिका की तरह जल जाते हैं, और सत्य आग में तप कर सोने की तरह निखर उठता है।

कैनेडा में हम मन से तो होली जरूर खेलते हैं पर मौसम की प्रतिबद्धता के कारण इस उत्सव पर लाल, हरे, पीले, नीले अनेक रंगों की पिचकारियों की फुहार की कमी को जरूर महसूस करते हैं। यहाँ तो सारे रंगों में बस एक ही रंग की प्रधानता रहती है, बर्फ़ के रंग की, हिम-कणों के उज्ज्वल-धवल श्वेत रंग की।

अप्रवासी भारतीयों के लिए इस संदर्भ में तो 'होली' सिर्फ़ हो ली बन कर रह जाती है। वो 'होली' जो बस अब वर्त्तमान में अतीत की हो ली, हो गई है। हम तो होली कभी अपने देश में मनाते थे, अब तो वर्त्तमान क्या भविष्य के लिए भी, या यूँ कहिए कि जब तक हम यहाँ रहेंगे तब तक के लिए 'होली' हो ली।

हाँ, एक बार जरूर जब हम होली के पर्व पर भारत गये थे, तब हमने भी खूब होली मनाई। खूब रंग खेले। यहाँ तो सारे सतरंगों में बस एक ही रंग रह जाता है, लाल-गुलाल रंग। रंग के नाम पर एक-दूसरे को गुलाल का टीका लगाया और लो हो गई होली। ज्यादा मसखरापन किया तो गाल, नाक, माथे पर गुलाल मल दिया।

रंगीन पानी की पिचकारियों से तो खेलने का सवाल ही नहीं उठता। घर के अंदर होली, गलीचा, दीवारें खराब होने के डर से खेल नहीं सकते और घर के बाहर ठंड के डर के मारे। आँगन तो यहाँ होता नहीं, और अगर हो भी तो बाहर के बाकी खुले स्थानों की तरह वहाँ भी बर्फ़ का ही साम्राज्य होगा।

हाँ, यह बात अलग है कि धुनी हुई रुई की तरह, ताज़ी हर तरफ़ प ी हुई दूधिया बर्फ़ पर होली के उत्सव पर खेले गये रंग, कैसा प्यारा विविध रंगों का, विभिन्न चित्रों का कालीन बनाएँगे, इसकी कल्पना ही मन को अंदर तक गुदगुदा देती है। कल्पना की सुखानुभूति तो बहुत होती है पर यथार्थ बदन को थरथरा देता है। छोटी-मोटी जुकाम-खाँसी तो शायद निपट भी लें पर निमोनिया हो जाएगा तो . . . ? और इस 'तो' की कील के प्रश्न पर त्रिशंकु-सा अधर में लटका मन, बस वहीं टँगा, अटका रहता है। काश ! मन भी कमीज़ की तरह होता कि कील से उतार, होली के रंगों में डुबा, तत्पश्चात धो-सुखाकर पुनः कील पर टाँग सकते।

अतः हम सब तो बस मन मारकर, सिर्फ़ गीत गाकर ही संतोष कर लेते हैं . . . .

'ब्रज में होरी खेलत कन्हाई।'

होली की बधाई, होली मुबारक।

सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

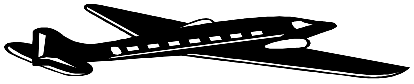

### मन की राधा

### फागुनी गीत

### डा. अम्बाशंकर नागर

बाहर चाहे जितनी भी भय बाधा हो
मेरे मन के कृष्ण-कन्हाई की
तुम प्यारी राधा हो। बाहर...
राधा कैसे रुके सदन में
मुरली ने आराधा हो.
और हृदय में मुरलीधर-प्रति
पावन प्रेम अगाधा हो. बाहर...
मन मुरलीधर मौन मुरलीया
अनहदनाद अगाधा हो.
सुन सकता है वही कि जिसने
प्रेमयोग को साधा हो. बाहर...

## प्यार का बूढ़ा पखेरू !

याद है
तुमने कहा था :
'हाय, कितना स्वल्प यौवन
हाय, कितना अल्प जीवन..
रीतता है
रीत जाए भले यह,
बीतता है
बीत जाए भले यह,
मैं तुम्हारी हूँ
तुम्हारी ही रहूँगी.'
और तब मैंने कहा था :
'हो गई है आज
मुझको भी प्रतीति
पात झ जायें
भले ही वृंत से
वय, रूप के,
प्यार का बूढ़ा पखेरू
ठूँठ पर बैठा रहेगा।'

### डा. गिरीश रस्तोगी

दूर कहीं गाँव में
पे ों की छाँव में
चंदा का मौन पले
अधियारी छे -छे जाए
फागुनी बयार मुस्कुराए।
कुएँ की मुंडेर पर
बैठी थी चाँदनी
कि गंध की फुआर उ ी
चुप्पियों में गूँज उठी
मौन गीत बह चले
गमक उठी डगर-डगर
पियरी बौछार उ ी जाए
सरसों की लाज बही जाए
भोर ने बिखेरा रंग
साँझ ने सिमेटा रंग
गंधमादनी निशा ने
बोर दिया अंग-अंग
द्वार-द्वार खनक हुयी
पातों के झाँझ बजे
पायल की ताल छुटी जाए
क्वाँरा मन हुमक-हुमक जाए।
न रीतने का दिन है ये
न रूठने का दिन है ये
बहार का उदासियों को
चूमने का दिन है ये
डूब चली साँस-साँस
गुनगुनाया हर पहर
टेसू की प्रीति उर्मि जाय
अँगना में छहर-छहर जाए
वासंती गीत उमग आए।

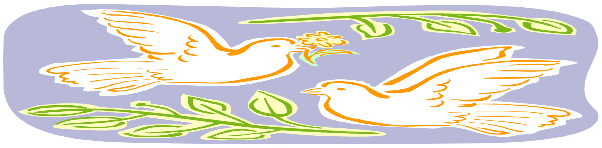

## कन्हैया राजा होरी खेलें

डा. प्रेम जनमेजय

जैसे-जैसे होली का दिन समीप आता जा रहा था कृष्ण की बेचैनी बढ़ती जा रही थी। अब उन्हें होली में मज़ा नहीं आता था। उनका मन करता था कि वह सुरक्षाकर्मियों की दीवार तो कर ब्रज प्रदेश चले जाएँ और वहाँ जाकर स्वाभाविक होली खेलें। सरकारी किस्म की होली खेलते वो उकता-से गये थे। उनका कई बार मन चाहा कि वो अपना रथ उठाएँ और हाँकते हुए ब्रज प्रदेश पहुँच जाएँ, परन्तु वे विवश थे। जिस कृष्ण को ब्रज की गोपियाँ छाँछ पर नचाया करती थीं उन्हीं कृष्ण को अब सुरक्षाकर्मी नचा रहे हैं। कृष्ण ने अनुभव किया कि मथुरा में सत्ताधारी होकर वो कितने अस्वाभाविक हो गये हैं। इस राजनीति का जन्म ही शायद मनुष्य को अस्वाभाविक बनाने के लिए हुआ है।

कृष्ण ने अपने सखा और सलाहकार, उद्धव को बुलाया। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, 'हे मित्र, ब्रज की बार-बार याद आने से हृदय गोप-गोपिकाओं से मिलने को मचल रहा है। होली के अवसर पर मैं ब्रज प्रदेश जाना चाहता हूँ। गोप-गोपिकाओं के साथ गलियों में एक-दूसरे के पीछे भागते-दौ ते होली का हु दंग मचाने के लिए हृदय वैसे ही बेचैन हो रहा है जैसे प्रजा के मुख से जय-जयकार सुनने के लिए किसी राजा का हृदय बेचैन होता है अथवा आवभगत कराने को लालायित व्यक्ति का गला हार पहनने को त पता है।'

इस पर उद्धव ने कहा, 'मैं तुम्हारे हृदय की दशा समझ सकता हूँ मित्र, परंतु सुरक्षा की दृष्टि से इस समय ब्रज प्रदेश जाना उचित नहीं है। गुप्तचरों से सूचना मिली है कि अभी भी कंस के कुछ ऐसे विश्वासपात्र सेवक बचे हैं जो तुम्हारी हत्या करना चाहते हैं। ब्रज की गोपिकाओं के प्रति तुम्हारे अनुराग से वो अच्छी तरह परिचित हैं। हो सकता है होली के अवसर पर ब्रज में तुम्हारी हत्या का षड्यंत्र रचा जा रहा हो।'

'मैं ऐसे षड्यंत्रों से घबराता नहीं हूँ।'

'जानता हूँ मित्र, परन्तु इन दिनों पास-प ोस के एक-दो राजा शांति-प्रस्ताव के लिए आ रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से तुम्हारा इन दिनों बाहर जाना उचित नहीं होगा।'

'इसका अर्थ इस बार हम होली नहीं खेल सकेंगे?' कृष्ण खींझकर बोले।

'क्यों नहीं खेल सकेंगे मित्र। अब तो आप सत्ताधारी हैं कृष्ण। आप चाहें तो पूरा वर्ष होली खेल सकते हैं। अब तो आपको केवल होली खेलनी ही नहीं है अपितु होली के उत्सव पर प्रजा के नाम संदेश भी प्रसारित करना है।'

'होली पर प्रजा के नाम संदेश ! कैसा संदेश?' कृष्ण ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

'यही कि होली पर प्रजा-जन एक-दूसरे पर सद्भावनापूर्वक रंग डालें। प्रत्येक एक-दूसरे से मिल-जुलकर, सभी प्रकार के भेदभाव भुलाकर होली खेलें। आपके द्वारा दिया जाने वाला संदेश आपके सचिव ने तैयार किया हुआ है। तैयार क्या करना है, अब तक कंस जो संदेश जनता के नाम पर दिया करता था, उसी में कुछ फेरबदल कर उसे तैयार किया गया है। राजा कोई भी हो उसके संदेश एक जैसे ही होते हैं। चाहे वो कितना भी क्रूर हो उसे मेल-मिलाप, भाईचारे का संदेश देना ही प ता है। अतः आप को भी होली पर भाईचारे का संदेश देना ही प ेगा।'

यह सुनकर कृष्ण बहुत जोर से हँसे, 'होली पर ऐसे संदेश देने की सार्थकता क्या है? प्रजा तो सदा सद्भावपूर्वक होली मनाती ही है। मेरे संदेश देने से क्या परिवर्तन आने वाला है। हाँ, इससे कुछ दुष्ट मस्तिष्कों में ये अवश्य आ जाएगा कि होली भेदभाव के साथ भी मनाई जा सकती है।'

'जानता हूँ मित्र कृष्ण कि इन संदेशों का कोई विशेष लाभ नहीं है, फिर भी ये दिये जाते हैं। जनता भी इनको निस्पृह भाव से सुनती है। इनका सुनना क्या और न सुनना क्या ! संदेश देने वाला इस भाव से देता है कि जो सुने उसका भला, जो न सुने उसका भी भला। परन्तु संदेश देना एक विवशता है जिसे ओढ़ना ही प ता है।'

'यानी कि हम होली का संदेश देंगे परंतु गोप-गोपिकाओं के साथ भाईचारे वाली होली खेलेंगे नहीं।' श्रीकृष्ण ने चुटकी ली।

'क्यों नहीं खेलेंगे होली आप ! आपकी राजसी होली की तैयारियाँ तो दो माह से चल रही हैं। जो लोग आपसे होली खेलने आएँगे, उनके चुनाव की प्रक्रिया लगभग समाप्त हो चुकी है। होली खेलने वालों के चरित्र, रहन-सहन, स्वाभाव आदि की पूरी विवरणी तैयार कर ली गई है। इनको होली प्रशिक्षण देने के लिए अनेक कुशल होली-वर स्थान-स्थान से बुलाए गये हैं। रंग के लिए टेसू के फूलों का एक उपवन तैयार किया

गया है जिसकी रक्षा का भार सौ पहरेदारों पर है। चौंसठ प्रकार के गुलालों की रचना करने के लिए दो सौ कारीगरों की व्यवस्था की गई है। दो सौ पिचकारियों के निमार्ण का कार्य विशेष सुरक्षा में चल रहा है। कौन व्यक्ति किस पल में कैसे आप पर कौन-सा रंग, कितने क्षण तक फेंकेगा, इसको तय कर लिया गया है। जो आप पर रंग डालेंगे वो उत्तर दिशा में आपसे बीस गज दूर होंगे। उनके पीछे सुरक्षा कर्मचारी तत्पर रहेंगे और जिन पर आप रंग डालेंगे वो पश्चिम दिशा में रहेंगे। उनके हाथ में कुछ नहीं होगा। ' उद्धव एक साँस में सब कुछ बोल गए।

'उद्धव जी, आपका अभिप्राय है कि जो हम पर रंग डालेंगे, हम उन पर रंग नहीं डालेंगे और जिन पर हम रंग डालेंगे, उनके हाथ में पिचकारियाँ नहीं होंगी। वे केवल अपने ऊपर रंग डलवायेंगे। ये कैसा हास्यास्पद प्रसंग होगा उद्धव जी, आपने कभी सोचा है। आपकी नौकरशाही भी कितनी नशीली हो गयी है। यह आप मुझसे होली खिलवा रहे हैं या फिर होली का स्वाँग करवा रहे हैं? ' कृष्ण झुँझलाकर बोले।

'राजा तो होता ही स्वाँग करने के लिए है, श्रीकृष्ण ! गरीबों को देखकर एक पल में उसके चेहरे पर दुख-दर्द छा जाता है और अमीरों को देखकर अगले ही क्षण उसका चेहरा भ्रष्टाचार-सा खिल जाता है। वह एक क्षण विवाह में सम्मिलित होकर मुस्कुराता है तथा दूसरे क्षण शव-यात्रा में सम्मिलित होकर उदास हो जाता है। परंतु उसका हृदय न तो प्रसन्न होता है और न दुखी। वो तो सचिव के कहने पर इस सब का मात्र अभिनय करता है। ' उद्धव ने कृष्ण को समझाया।

'राजा न हुआ अभिनेता हो गया जिसे प्रत्येक क्षण इस प्रकार का स्वाँग करना प ़। इससे अच्छा तो अपना ब्रज प्रदेश था जहाँ स्वाँग रचते थे तो अपने मनोरंजन के लिए, यहाँ स्वाँग रचना प  रहा है जनता को ठगने के लिए ! ' श्रीकृष्ण उद्विग्न होकर बोले।

'मित्र, एक अच्छे राजा के अन्दर एक अच्छे अभिनेता के गुण होना परमावश्यक होता है। अगर वो अच्छा अभिनेता नहीं होगा तो प्रजा न तो उसके लिए तालियाँ बजाएगी और न उस पर अपना विश्वास रखेगी। '

'नहीं उद्धव हमसे ये नहीं होगा। राजा होने का ये अर्थ कदापि नहीं है कि आम प्रजा से वो दूर हो जाए। प्रजा हमारे बारे में क्या सोचेगी? जो कृष्ण कल तक ब्रज की गलियों में होली खेला करता था, जो आम नागरिक के घरों से मक्खन चुराया करता था, वही कृष्ण सत्ता में आते ही इतना विशिष्ट हो गया कि राजसी होली खेल रहा है। होली भी नहीं खेल रहा है, होली का स्वाँग कर रहा है। कृष्ण की छवि मत बिगा ो मित्र, मेरी छवि ऐसी नहीं है, वो तो किसी भी गरीब के झोप ़ में घुसकर होली खेल सकता है। मुझे ये राजसी छवि नहीं चाहिए। '

'छवि की आप चिन्ता न करें श्रीकृष्ण, मैंने प्रचार मंत्री से कहकर सब प्रबंध करवा लिया है। महल के एक भाग में झोपि यों का निमार्ण किया गया है। आपसे होली खेलने के लिए प्रत्येक वर्ग, धर्म एवं जाति के लोग होली खेलने आएँगे। होली खेलते समय आपके प्रत्येक भाव-अनुभाव के सैक ों चित्र बनाकर वितरित किये जाएँगे। राज्य पर आर्थिक संकट को देखते हुए आपकी छवि सादी होली खेलने वाले की होगी। प्रजा से भी अनुरोध किया जाएगा कि वो सादी होली खेलें। आपके द्वारा खेली जाने वाली होली का वर्णन संजय जनता के लिए करेगा। '

ये सुनते ही, श्रीकृष्ण व्यंग्यात्मक आक्रोश के साथ बोले, 'सादी होली . . .हा . . .हा . . हा . . सादी होली - हमारे लिए जैसी सादी होली का प्रबन्ध तुमने किया है उसे देखकर तो देवता भी चकरा रहे होंगे। हमारी सुरक्षा-व्यवस्था पर जो व्यय हो रहा है, उसमें सादापन कहाँ रह जाता है। हमें नहीं खेलनी है ऐसी यांत्रिक, नीरस एवं ढकोसले वाली होली। हम होली खेलेंगे तो ब्रज में वरना इस बार होली नहीं खेलेंगे। ' सच, उस बार श्रीकृष्ण ने होली नहीं खेली।

## परिणाम !

**पाराशर गौ**

जिस दिन -
मैंने अपने पैतृक घर से
विदेश के लिए पाँव रखे

## बेरहम आँधियाँ

**सरन घई**

क्यों सुनाना चाहते हो पत्थरों को दासताँ,
ये बुतों का शहर है ज़ाया करो मत सिसकियाँ।
आँख में आँसू लिए आख़िर जगोगी कब तलक,

मुझे, उसी दिन
लगने लगा था कि -
ये अब कभी वापिस नहीं लौटेंगे।
यह देश -
जिसमें मैं बस गया हूँ
इसने मुझे मेरी पी ा व मेरे साथ
मेरे समूचे राष्ट्र को भी निगल लिया है;
और अब मैं -
अपनी पहचान के लिए छटपटा रहा हूँ
कि मैं कौन था?
और कहाँ से आया हूँ !

***

आओ तुमको मैं सुला दूँ दे के कोमल थपकियाँ।
मत रखो उम्मीद वो आयेगा फिर से लौटकर,
रोते-रोते खुद-ब-खुद थम जायेंगी ये हिचकियाँ।
जिसकी छत के आसरे जीवन बिताने की थी आस,
उसी बेदर्दी ने रह-रह कर गिरायीं बिजलियाँ।
जिन घरों की रौशनी से जगमगाता था चमन,
उनके चूल्हों ने जला कर ख़ाक कर दी बस्तियाँ।
लौट कर आना कभी मत फिर से इस गुलज़ार में,
हो चली वीरान सारी खिलखिलाती वादियाँ।
तिनका-तिनका बिखर जाती है समूची क़ायनात,
वक्त ने जब-जब चलायीं बेरहम-सी आँधियाँ।

***

## गीत

**प्रो. भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़'**

मुखर हो रहा आज मौन संगीत है
जो  रहा यह मन से मन की प्रीति है।।

उपवन का यह कोना कितना शांत है,
पर लगता उसका मन भी उद्भ्रान्त है।
तरुओं के किसलय मानों ये कहते हैं
मत काटो इनको हम इनमें रहते हैं।

जो आश्रय दे उस पर करते हो प्रहार तुम,
मानव कैसी यह तेरी रीति है।।

निशिगंधा का प्रेमालाप अनूठा है,
लगता उसका प्रेमी उससे रूठा है।
पर वह अपनी पी ा स्वयं उठायेगी,
व्यथा-कथा कहने न किसी से जायेगी।

मनु के वंशज ! नियति न तुम पहचान सके,
फल यह है 'तू अपने से भयभीत है।।'

आस्था के तरु पर थो ा विश्वास करो,
मत खिलती कलियों का तुम उपहास करो।
संशयात्मा का विनाश होता ही है
स्नेह और श्रद्धा वञ्चित् रोता ही है।
अभी समय है त्यागो पंच विकारों को,
करो समर्पण, प्रभु की पावन प्रीति है।।

## दीपू

**ममता खरे**

'प्रभा कहाँ हो?' रत्नेश ने दफ्तर से आते ही रोज़ की तरह आवाज़ लगाई। प्रभा रसोई में थी हाथ धोकर बाहर आती हुई बोली - 'आज आपको लौटने में ब ी देर हो गई?'

'हाँ, ज़रा गिरीश के घर रुक गया था। उसका छोटा बच्चा ब ा प्यारा है। उसी को खिलाने में देर हो गई, समय का ध्यान ही नहीं रहा।' रत्नेश कुर्सी पर बैठकर जूते का फीता खोलने लगे। प्रभा का चेहरा उतर गया।

सिर झुकाए-झुकाए रत्नेश ने फिर पूछा - 'क्या कर रहीं थीं?'

अँगूठी के नग की ओर देखती हुई प्रभा धीरे से बोली, 'यूँ ही कुछ पकवान बना रही थी। होली में अब देर कहाँ है? दस-प्रन्दह दिन ही तो बचे हैं।'

'हर बार किसके लिए पकवान बनाती हो प्रभा? कौन खाने वाला बैठा है? गिरीश के यहाँ बच्चे अंदर से मुट्ठी भर-भर मठरी, गुझिया ला-लाकर खा रहे थे। ठीक भी है, बच्चों के घर में ये सब ठीक भी रहता है। हम तुम क्या खाएँगे, क्या उठ पाएगा?'

'चार आदमी तो आते ही हैं। उनके सामने तो रखना ही प ेगा।' प्रभा ने दबी आवाज़ में कहा।

'बस, तो उतना ही बनाओ। क्या बताएँ एक हम ही अभागे हैं कि --,' वे उठकर अंदर चले गए पर प्रभा जहाँ की तहाँ ख ी रह गई। आँखों से आँसू चू प े। यह दुख दोनो को खाए जा रहा है। दोनों को बच्चे से इतना प्रेम है पर उन्हीं की गोद सूनी है। हर तरह की डाक्टरी जाँच, दवादारू, यहाँ तक कि झा फूँक भी करवा चुके थे। अब तो मन को भी समझा लिया था परंतु यह दुख क्या समझाने से दूर होता है? दूसरों को बच्चों में मगन देखकर अपना हृदय रो उठता है।

रात को खाना खाते हुए रत्नेश ने पूछा, 'क्या-क्या पकवान बना डाले तुमने?' हिचकिचाते हुए प्रभा ने दो-चार चीज़ों के नाम गिनाए फिर मौन साधे पति को खाते देखती रही। काश इनकी थाली के पास छोटी-सी थाली और लगी होती।

'सुनिए, एक बार अनाथालय चलिए न? साल सवा-साल भर का बच्चा मिल सकता है' प्रभा ने साहस बटोरते हुए कहा।

'प्रभा मैं तुम्हारी पी ा समझता हूँ। मेरा मन भी कभी-कभी भटक जाता है। दूसरों के बच्चों को हँसता-खेलता देखता हूँ तो हृदय में भाला-सा चुभता है परंतु बिना परिचय के बच्चे को गोद लेने की बात गले से उतरती नहीं है। अनाथालय में ऐसे ही बच्चे मिलेंगे।'

'सुना है शिशु सदन में ऐसे बच्चे भी पलते हैं जो दुर्घटना में अनाथ हुए हों या --'

'मैं कल पता करूँगा प्रभा लेकिन इतना मान लो कि सब भाग्य से मिलता है। मैंने तो अपने को किसी हद तक समझा लिया है।'

'तभी तो आज गिरीश बाबू के बच्चों में घंटों खोए रहे। आपका जी तो नाना प्रकार की बातों में लग जाता है, मेरा समय तो नहीं कटता है।' प्रभा अपने को सँभाल न सकी। घुटने के बीच मुँह छिपाकर फफक प ी। रत्नेश से कुछ कहते न बना।

++++

जुलाई की रात। तेज वर्षा हो रही थी। रह-रहकर बिजली चमक रही थी। दो दिन हुए रत्नेश दौरे पर बाहर गए हुए थे। घर पर प्रभा अकेली ही थी। जी तो नहीं कर कर रहा था फिर भी दो कौर खाने के इरादे से वह चौके की ओर बढ़ी ही थी कि लगा बाहर का किवा  किसी ने जोर से धकेला।

इतनी रात गए कौन आ सकता है? कोई चोर बदमाश तो नहीं? बेचारी प्रभा सिहर उठी। उसने चारों ओर नज़र दौ ाई। कोई ऐसा-वैसा आ गया तो? इतने में सचमुच बाहर का दरवाज़ा फिर ख ख ाया। इस बार घंटी भी बज उठी।

'कौन है?' काँपती-सी आवाज़ निकली प्रभा के गले से।

'मम्मा', एक नन्हीं-सी आवाज़ चिहुँक कर मानो रो उठी। न जाने प्रभा को क्या हुआ। दौ कर बाहर के दरवाज़े के पास पहुँची और एक ही झटके में उसे खोल डाला। उधर ख ा था पानी से तरबतर भीगा, एक ेढ़-दो-साल का नन्हा-सा बच्चा।

किवा  खुलते ही बच्चे ने अपनी गोरी-गोरी बाँहें फैला दीं। न जाने कौन-सा आकर्षण था उन बाँहों में, प्रभा ने उसे लपक कर गोद में उठाया और छाती से चिपका लिया। बालक का रोना बढ़ गया।

'मम्मा' बच्चे ने प्रभा की गर्दन के चारों ओर बाँहों का घेरा और कस दिया। उस स्पर्श में कैसा जादू था, प्रभा का सारा शरीर रोमांचित हो उठा।

'बेटे, तुम यहाँ कैसे आ गए? कौन है तुम्हारे साथ? प्रश्न पूछने के साथ ही साथ उसने बाहर दूर-दूर तक नज़र दौ ाई। कहीं कोई नहीं था। बच्चे से उत्तर की आशा करना व्यर्थ था। वह छाता लगाकर, टार्च

लेकर बाहर आई लेकिन कोई नहीं दिखलाई दिया। मन में हुआ कोई जान-बूझकर तो नहीं छो  गया है? कहीं रास्ता भटक कर न चला आया हो बच्चा? किसी पास-प ोसी का भी बच्चा नहीं है। धीरे से किवा  बंद करके उसने काँपते हुए बच्चे के आँसू पोंछे। कप  बदलना बहुत जरुरी था पर क्या पहनाए? उसके पास बच्चे के लिए कप  हैं हीं कहाँ? अलमारी से अपना एक ब्लाउज निकालने लगी तो ध्यान आ गया। भतीजे प्रकाश के लिए नए कप  सिलवाए थे - वह रखे हैं। लगभग यह भी प्रकाश की ही उम्र का होगा - शायद इसे आ जाएँ।

हाथ-मुँह पोंछकर ब  स्नेह से प्रभा ने बच्चे को कप  पहनाए। बालक का गोरा रंग, हँसता चेहरा, तीखे नाक-नक्श, गोल-मटोल शरीर प्रभा को सेलूलॉयड के खिलौने-सा लग रहा था। क्या नाम है तुम्हारा? प्रभा ने उससे प्यार से पूछा।

दीपू , थो ी देर चुप रहकर बच्चे ने ब ी समझदारी से रहस्योद्घाटन किया।

दीपू बेटे को भूख लगी है?

गर्दन हिलाकर दीपू ने इधर-उधर देखा। हँसकर प्रभा ने उसे गोद में उठा लिया।

रोटियों के छोटे-छोटे कौर खिलाते हुए उसका सोया मातृत्व जाग उठा। वह भूल गई कि किस गैर के बच्चे को खाना खिला रही है। आत्मविभोर प्रभा टकटकी लगाए दीपू का सुंदर मुख निहारती नहीं थक रही थी।

दीपू सो गया तो फिर एक बार बाहर जाकर झाँका शायद कोई बच्चे को ढूँढ़ रहा हो। हल्की-हल्की वर्षा अभी भी हो रही थी। प्रभा स क तक जाकर देख आई, कोई नहीं था। लौटकर आई। दीपू परम निश्चिन्त-सा सो रहा था। पंखे की हवा से उसके भूरे-भूरे घुँघराले बाल माथे पर उ  रहे थे। कितना प्यारा बच्चा है, काश यह अपना होता। इसकी माँ खूब रो रही होगी। पता नहीं भगवान कौन-सी परीक्षा ले रहे हैं। किसका बच्चा, कहाँ भेज दिया है? मुझे व्यर्थ की ममता फाँस लेगी तो मैं कहीं की न रहूँगी। कल इसके घर वाले ढूँढ़कर ले जाएँगे तब तो देना ही प ेगा। दो-तीन दिन में रत्नेश लौट आएँगे। अगर तब तक इसे कोई नहीं ले गया तो? क्या कहेंगे? खूब गुस्सा होंगे? दीपू को कहीं निकाल न दें? ओह, मैं ऐसा न होने दूँगी। इतना प्यारा नन्हा-सा बच्चा, कैसा मम्मा  बुलाता है। प्रभा ने झुककर सोते दीपू के गाल चूम लिए।

दूसरा और तीसरा दिन भी इसी प्रतीक्षा में निकल गया कि कोई आकर दीपू को ले जाएगा। कोई आया नहीं इससे प्रभा संतुष्ट और प्रसन्न थी। मन से शायद वह यही चाहती थी पर पति का डर उसे यह सोचने को मजबूर कर रहा था कि दीपू के घरवाले आकर ले जाते तो अच्छा रहता।

दीपू अपने में मगन दिनभर खेलता रहता। गिर जाता फिर भी हँसता। उसकी अदाओं पर प्रभा का तन-मन न्यौछावर हुआ जा रहा था। छोटे-छोटे दाँतों से सजे मुँह को खोलकर जब वह हँसता तो प्रभा का मन उसे गोद से चिपटा लेने को मचल उठता। मम्मा और दीपू बेटे के रात-दिन एक हो गए थे। जब वह खाता, तब वह भी खाती, जब वह नहाता तभी प्रभा को भी नहाने का ध्यान आता, जब वह थककर सो जाता तब कहीं जाकर प्रभा आराम कर पाती।

घर में खिलौने कहाँ थे? खुद दीपू को लेकर बाहर जाने का साहस नहीं था, कहीं कोई इसके बारे में पूछ न बैठे। दीपू को वह दरवाज़े की तरफ नहीं जाने देती, कहीं उसके घरवाले न देख लें। कई रोज़ से काम करने वाली भी नहीं आ रही थी, नहीं तो उसी से कुछ मँगवा लेती। वैसे अच्छा ही था जो वो छुट्टी पर थी वरना घर-घर बात फैल जाती कि उसके यहाँ एक बच्चा है। कई बार उसने दीपू से उसके माँ-पिता, घर के बारे में पूछा परंतु वह नन्हा-सा बच्चा चुपचाप उसका मुँह देखता रह जाता।

++++

यह किसका बच्चा है प्रभा? दीपू पर नज़र प ते ही रत्नेश ने पूछा।

कई दिनों से अपने को इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार करती प्रभा तुरंत कुछ नहीं कह सकी। आश्चर्य से रत्नेश को देखता हुआ वह प्रभा का आँचल पक -पक  फिर रहा था। आप हाथ-मुँह धोइए, मैं चाय लेकर आती हूँ। पति के सामने प्रभा ज्यादा देर न ठहर सकी।

दीपू फिर आँगन में उछल-उछल कर खेलने लगा। चाय पीते हुए रत्नेश ने पत्नी की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डाली तो प्रभा ने धीरे से सारी बात बता दी। थो ी देर चुप रहने के बाद रत्नेश बोले, तुमने बच्चे को इतने दिन रोक कर ठीक नहीं किया। जब कोई लेने नहीं आया तो दूसरे ही दिन इसे पुलिस के हवाले कर देना था। वे उसके माँ-बाप का पता लगाकर सौंप देते। आज ही इसे छो  आऊँगा।

प्रभा का फक चेहरा देखा तो समझाते हुए बोले, 'दूसरे का बच्चा है, छिन तो जाएगा ही, फिर क्यों ममता बढ़ाती हो?'

ब` रोने-धोने के बाद दीपू टॉफी, चॉकलेट की लालच में रत्नेश के साथ जाने को तैयार हुआ। पहनकर आए हुए कप` पहनाते समय प्रभा की आँखें न जाने कितनी बार भर-भर आईं। यह तो होना ही था फिर भी चार-पाँच दिन में नन्हा दीपू जैसे अपने हाड-माँस का टुक ा बन गया था। पहले दो दिन तो नींद ही नहीं आई फिर तो यूँ लगने लगा जैसे दीपू को गले लगाए जन्म-जन्मान्तर से सोती आ रही है।

दीपू को खिलाने, नहलाने, सुलाने में कहाँ से सारा समय निकल जाता था, कुछ पता ही नहीं चलता था। अब तो सारा काम ही खत्म हो जाएगा। जितने पाप , मठरी खुरमें बनाए थे, दीपू ने पाँच ही दिन में खत्म कर दिए थे। सच में अब कौन खाएगा? दीपू जाते समय अपनी भाषा में प्रभा को समझा गया कि वो जल्दी आ जाएगा। उसका 'मम्मा, लोना मत', सुनकर वह अपने को रोक न सकी। दरवाज़ा बंद करके कटे पे -सी प्रभा आकर बिस्तर पर गिर प ी।

पुरुष को समझाना कितना कठिन होता है। माँ के मन की भूख बच्चे के अलावा कौन बुझा सकता है? रत्नेश माँ के हृदय का दर्द कभी नहीं जान सकेंगे।

घंटे भर बाद रत्नेश लौटे। प्रभा की लाल सूजी आँखें देखकर ही वह समझ गए कि वह अभी तक रो रही थी। न तो उसने कुछ पूछा, न उनसे कुछ बताते बना। वे दीपू को ब ी मुश्किलों से दरोगा जी के पास बैठाकर भाग आए थे।

दूसरे दिन उनका मन न माना। दफ्तर से लौटते समय थाने जा पहुँचे। दरोगा साहब उन्हें देखते ही शिकायती लहज़े में बोले, 'साहब, कैसा बच्चा आप छो  गए हैं। कल से न खाया है, न पिया है, बस मम्मा-मम्मा कर रहा है। न हो आप इसे ले जाईए, कोई पूछता हुआ आएगा तो पहुँचा दिया जाएगा।'

बहाना बना कर रत्नेश ने दरोगा से पीछा छु ाया परंतु घर पर उदास और दुखी प्रभा को देखकर सोचने लगे ल के को ले आते तो अच्छा रहता। प्रभा से कई बार बात करने की कोशिश की पर 'हाँ, हूँ' के अलावा वह बोली ही नहीं। बच्चे के प्रति ममता रत्नेश के मन में भी जाग रही थी। था तो ब ा प्यारा-सा बच्चा, हर्ज ही क्या था अगर वह यहीं रहता? कम से कम कुछ दिन तो प्रभा मातृत्व का सुख उठाती। एक ही दिन में कैसा मुर्झा गई है? काश मैनें इतनी जल्दबाजी न की होती। अब हो ही क्या सकता है?

चुपचाप बैठे अखबार पढ़ रहे थे। डाकिया डाक दे गया था। किसी अपरिचित की लिखावट लग रही थी। ऊपर पता भी अजीब-सा था। पत्र प्रभा के लिए था। बंद लिफाफा उन्होंने चूल्हे के पास बैठी प्रभा को दे दिया।

पत्र पढ़कर प्रभा का चेहरा दमक उठा। फुर्ती से उठकर रत्नेश के पास पहुँची और पत्र देते हुए बोली, 'इसे पढ़कर तो देखिए, दीपू के लिए लिखा है।'

पत्र लिखने वाली कोई ऊषा थी जिन्होनें शाहजहाँपुर से दीपू के बारे में सारी सूचना भेजी थी। उनके पत्र का सारांश था कि उनके प ोसी स्वर्गीय रमेशचन्द्र की मृत्यु लगभग छः माह पहले हुई थी। उन्हीं का डेढ़ साल का बच्चा दीपक उसी दिन से अनाथ हो गया था। दीपू की माँ बच्चे को जन्म देते ही मर गई थी। ऊषा जी ने उसे अपने पास रखा था किन्तु अचानक पति की नौकरी छूट जाने से ब` आर्थिक संकट में प  गई हैं। रत्नेश के गोद लेने वाले विज्ञापन को देखकर दीपू को छो ने आई थीं किन्तु अंत में साहस न बटोर सकीं और बच्चे को चुपचाप दरवाज़े पर छो कर लौट गईं। उन्होंने आशा प्रकट की थी कि दीपू खूब खुश होगा। उसे गोद लेने का आग्रह भी किया था। साथ ही एक बार शाहजहाँपुर जाकर दीपू के पिता की थो ी-बहुत संपत्ति की व्यवस्था करने के लिए भी लिखा था।

पत्र पढ़कर रत्नेश ने प्रभा की ओर देखा। प्रभा बोली, 'गोद लेने का विज्ञापन कैसा?' 'अरे, मैने ही निकलवाया था।' पत्नी के चेहरे पर आश्चर्य के भाव देखकर हँसे, 'अब तुमसे अपनी हर कमज़ोरी की क्या चर्चा करता?'

प्रभा भी हँस दी, 'अब क्या सोचा?

'सोचना कैसा? चप्पल पहन आओ, छाता भी साथ ले लो। चलो दीपू को ले आएँ।'

'सच आपने तय कर लिया है?' प्रभा को रत्नेश की बातों पर विश्वास नहीं हो रहा था।'

'सच में प्रभा, दीपू ने न सिर्फ़ तुम्हारा बल्कि मेरा भी मन जीत लिया है। जल्दी करो लौटते समय बाजार से उसके लिए कप` और खिलौने लूँगा। टॉफी, चॉकलेट भी उसे दिलाना है। फिर तुम्हें घर छो कर पंडित के घर जाना है।' रत्नेश की आवाज़ से कम उत्साह नहीं झलक रहा था।

'पंडित क्या करेंगे?' प्रभा के पाँव ही न उठ रहे थे।

'जो काम करना है उसमें देर क्यों की जाए? मैं कल ही दीपू को गोद लूँगा। अच्छा अब एक भी सवाल नहीं। जल्दी चलो वरना देर हो जाएगी। झोला भी ले लेना, मैदा, घी, चीनी भी तो लेना है वरना दीपू जी क्या खाएँगे?'

हँसकर प्रभा दरवाज़े का ताला बंद करते हुए बोली, 'रंग भी इस बार खूब सारा खरीदिएगा। उन्हें होली खेलना आता ही कहाँ है, रंग गिराएँगें, फैलाएँगें। भावी माता की आँखों के आगे होली का दृश्य झलक उठा।

दोनो लम्बे-लम्बे डग भरते थाने की ओर बढ़े जा रहे थे।

## सुबह से सुबह तक

**गुणानंद थपलियाल**

प्राण खिलने लगे, ज्योति झरने लगी,
साँझ होने लगी, दीप जलने लगे,
जले कुछ स्वयं, कुछ बुझाये गये,--
फिर गगन से धरा तक अंधेरा वही है।

अनय भावना के अदय गीत गाए,
निपट स्वार्थ के दीप हमने जलाए,
छली ज्योति हमने, छले हम गए हैं--
मनुज से मनुज तक अँधेरा वही है।

अरी दीप-माला! अरी ज्योति-रेखा!
ये जलना-त पना तुम्हारा भी देखा;
नहीं लौट भारत अभी राम आये--
विपिन से नगर तक अँधेरा वही है।

क्षणिक मुस्कुराकर बुझी दीपमाला,
निवि क्रूर तम ने उसे लूट डाला,
भटकते हुए पथ दिवस ढूँढ़ते हैं--
हृदय से हृदय तक अँधेरा वही है।

तुम्हें मैं पुकारूँ, मुझे तुम पुकारो,
तुम्हें मैं निहारूँ, मुझे तुम निहारो,
न मैं सुन सकूँगा, न तुम देख पाओ-
पथिक से पथिक तक अँधेरा वही है।

अँधेरों से आवृत यहाँ गाँव गलियाँ,
अँधेरों में मनती यहाँ रंग-रलियाँ,
यह ज्योति उत्सव भला कब टिकेगा--
सुबह से सुबह तक अँधेरा वही है।

## हितैषी

**मधुप शर्मा**

मुझे इस बस्ती में रहते हुए पैंतीस साल से ज़्यादा हो गए। और आप सही-सही हिसाब पूछें तो छत्तीस साल पाँच महीने और... पर छोिए न, महीने और दिन गिनाने से क्या फायदा? कहना तो मुझे यह है कि इन पैंतीस-छत्तीस सालों में, वैसे तो हर जगह सभी कुछ बदल गया है। कहीं कम कहीं ज्यादा। और बदलना भी चाहिए। यही ज़माने का दस्तूर है। लेकिन मेरा वास्ता इसी बस्ती से रहा है, इसलिए इसी की बात कहता हूँ।

उन दिनों यहाँ आठ-दस छोटे-छोटे कॉटेज-नुमा बँगले हुआ करते थे और उनमें आठ-दस परिवार रहते थे। हर आदमी एक-दूसरे को जानता था। एक-दूसरे के सुख-दुख में शामिल होता था। अपनेपन और भाईचारे की एक भीनी-भीनी सुगंध हमेशा इस बस्ती में महकती रहती थी। अब उन बँगलों की जगह ऊँची-ऊँची इमारतें उग आई हैं। एक-एक इमारत में कई-कई फ्लैट, और एक-एक फ्लैट में कई-कई रहने वाले। शहर की जिस गहमा-गहमी से कंटाल कर इस उपनगर की इस छोटी-सी एकांत बस्ती में शरण ली थी, वही गहमा-गहमी यहाँ भी आ गई। और वे सारे पुराने परिचित चेहरे भी इस भी में, पता नहीं कहाँ खो गए। अपनेपन और भाईचारे की भीनी-भीनी सुगंध के स्थान पर अब यहाँ स्वार्थ की दुर्गन्धि ही ज़्यादा है। किसी को कोई काम होगा तो दूर से ही पुकारता हुआ चला आएगा, और काम नहीं होगा तो पास से यूँ गुज़र जाएगा कि जैसे कभी मिले ही नहीं थे।

अपने कमरे की इस खि की के सामने बैठकर जब मैं लिखा करता था, तब मेरी पत्नी कभी पूछती, 'खि की से बाहर क्या देख रहे हो?' तो छे ता हुआ मैं कहता, 'अभी-अभी एक सुन्दरी गुजरी है उधर से, मटकती हुई, उसी को देखकर एक शेर बन गया है, सुनोगी?' 'न बाबा न, मुझे नहीं सुनने तुम्हारे शेर-वेर। सब्जी चढ़ाकर आई हूँ, जल जाएगी।'

कभी-कभी पत्नी कहती, 'नज़रें तो कहीं दूर टिकी रहती हैं तुम्हारी, लिखते क्या हो?' मैं कहता था, 'उस नाले के पार वह झोप पट्टी देख रही हो?' 'रोज़ ही देखती हूँ। शाम को शराब पीकर क्या धमाल करते हैं वो लोग।'

'तुम सिर्फ़ उनकी धमाल सुनती हो, मैं उस झोप पट्टी में जन्म लेने वाली कहानियों को सुनता हूँ, जो उस तरफ़ से आने वाली हवाओं के झोकें मुझे सुना जाते हैं।'

'अच्छा बाबा सुनते रहो तुम। तुम लोगों की तो दुनियाँ ही निराली है। मैं शिकंजवी लाती हूँ तुम्हारे लिए।'

अब इसी खि की को खोलता हूँ तो सामने वाली इमारत के पिछले हिस्से की सपाट दीवार पर लगे हुए, गुसलखानों और रसोईघरों से उतरते हुए, लोहे के मोटे-मोटे पाइपों के अलावा और कुछ दिखाई नहीं देता। कुछ सुनाई देता है तो उस बिल्ि ग के बच्चों का शोर या धम्-धम् बजता हुआ कानफोड़ विदेशी संगीत। इसी खि की के सामने बैठता था तो कितनी खुशगवार हवा आती थी। सुबह के समय कितनी मीठी-मीठी धूप होती थी। कुछ पैसेवालों ने मिलकर मेरे हिस्से की धूप और हवा भी ह प ली।

मैंने कहा था कि इस भी  में सारे पुराने परिचित चेहरे कहीं खो गए। इस कथन में ज़रा-सी तरमीम की जरूरत है, सारे नहीं अधिकतर, क्योंकि अब भी एक चेहरा ऐसा है जो अक्सर उभरकर सामने आ जाता है, और उस चेहरे का नाम है, चम्पकलाल चौधरी, उर्फ़ चम्पक भाई, उर्फ़ चिपक्कू चाचा। यह आखिरी नाम मेरी ब ी बिटिया ने उन्हें दिया था। एक दिन दरवाज़े पर खटखट हुई। बिटिया ने दरवाज़ा खोला और आकर बोली, वही हैं आपके चिपकू चाचा। मैं बाहर के कमरे में गया तो देखा चम्पक भाई थे। क्षणभर के लिए तो मैं अपनी बिटिया की सूझबूझ पर हैरान रह गया। कितना सही और सटीक नाम दिया था उसने, सहज ही। दरअसल चम्पक भाई का काम ही कुछ ऐसा है कि चिपकें नहीं, तो काम नहीं होता। और कई बार तो चिपके रहने से भी काम नहीं होता, जैसा कि मेरे केस में। पिछले पच्चीस साल से चम्पक भाई इस कोशिश में रहे हैं कि मैं उनकी मार्फत जीवन-बीमा करवा लूँ। ब े-ब े तर्क दिए, ब ी-ब ी ऊँच-नीच समझाई, नई-नई लाभकारी योजनाएँ बताईं। पर मुझे नहीं करवाना था, मैंने नहीं करवाया। लेकिन उनकी भी हिम्मत और हौसले की दाद देनी प ेगी कि वह अभी तक निराश नहीं हुए। हाँ, अब उन्होंने बीमा करवाने के लिए कहना छो  दिया है, लेकिन यह जरूर बताते रहते हैं, कि कुछ साल पहले कितना लगाने से अब कितना हो गया होता। 'माथुर ने अपनी दोनों ल कियों की शादियाँ बीमे के ही पैसे से निबटाई हैं, और चक्रवर्ती को देखो, कितना ब ा मकान बनवा रहा है।'

'क्या करेगा इस बुढ़ापे में मकान बनवाकर?' मैंने कहा। तो तपाक से बोले, 'क्यूँ, ल का नहीं है क्या उनके? उसके लिए बनवा रहा है।'

ऐसे मौके पर मुझे हमेशा याद आ जाती हैं किसी प्रचीन कवि की पंक्तियाँ, 'पूत सपूत तो क्यों धन संचै, पूत कपूत तो क्यों धन संचै।'

चंपक भाई जब भी आते है, सवेरे के समय ही आते हैं। उस दिन भी उन्होंने सुबह साढ़े आठ बजे हाँक लगाई, 'पंडित जी घर में हैं?' और इससे पहले की मैं अपना वाक्य, 'हाँ, हाँ आ जाईए,' पूरा करूँ, वो पर्दा हटाकर दरवाज़े में दाखिल हो चुके थे।

मैं पिछले कुछ दिनों से अपनी कुछ कहानियों, कविताओं को व्यवस्थित करने के मूड में था। पलंग पर काग़ज़ों और फ़ाइलों के ढ़ेर लगे थे। पास की छोटी मेज़ भी किताबों से पटी प ी थी और यहाँ तक कि कुर्सी पर भी कुछ पुरानी पत्रिकाएँ रखी हुई थीं। चंपक भाई ने ब ी बेतकुल्लुफ़ी के साथ कुर्सी पर से पत्रिकाएँ उठाकर मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए पूछा, 'कहाँ की तैयारी हो रही है? कहीं जा रहे हैं क्या?'

मैंने कुछ फ़लसफ़ाना अंदाज़ में कहा, 'हाँ चम्पक भाई, जाना तो है ही, देर सवेर, उसी अंतिम यात्रा से पहले इन कागज़ों में बिखरी पूँजी को समेट जाऊँ तो ठीक रहे।'

दरअसल पिछले काफ़ी समय से मन में बार-बार आ रहा था कि ज़िन्दगी का क्या भरोसा। ग़ज़लों, कहानियों को कुछ व्यवस्थित रूप दे दूँ तो शायद किसी के कुछ काम आ जायें। लेकिन चम्पक भाई के दिमाग़

तक मेरी बात नहीं पहुँची। उन्होंने कागज़ों पर खुली प ी जन्मपत्री को उठाते हुए कहा, 'अरे पंडित जी, आप जन्मपत्री भी देख लेते हैं, मुझे तो मालूम ही नहीं था।'

मैंने कहा, 'पंडितों का तो काम ही है पत्री देखना, या पत्रा देखना।'

'मैं भी अपने घरवालों की जन्मपत्रियाँ दिखाऊँगा आपको। यह पत्री तो आपकी है। क्या बोलती है?'

'यही बोलती है कि चलाचली का समय आ गया।'

'मतलब?'

'क्या चंपक भाई, आदमी की चलाचली का मतलब नहीं समझते आप?'

चंपक भाई थो ी-सी देर के लिए कुछ हैरान-से नज़र आए। फिर शायद उनका ध्यान गया मेरी कई दिनों की बढ़ी हुई दाढ़ी पर, मेरे बिखरे हुए बालों पर, और जिस्म पर लिपटी हुई चादर पर, जो सवेरे की खुनकी की वज़ह से मैंने ओढ़ी हुई थी। बोले, 'आपकी तबीयत भी . . ।' और वाक्य पूरा करने से पहले ही वह ब े जोर से ठठाकर हँस दिए। यह उनकी खास आदत है कि जब कोई बात ज़बान से कहनी न हो तो वो इसी तरह ठहाका लगा देते हैं और बात आई-गई हो जाती है।

तनिक उलझन के बाद चंपक भाई ने विषय बदलते हुए पुकार कर कहा, 'भाभी जी नाश्ता बना रही हैं क्या? मैं लेट तो नहीं हो गया?'

जवाब मैंने दिया, 'आप लेट तो नहीं हैं चंपक भाई, लेकिन नाश्ता बनाने वाली, आप की भाभी बाहर गई हुई हैं, कई दिनों से, ब ी बिटिया के पास।'

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि मेरी पत्नी पाकशास्त्र में निपुण हैं और उनका सबसे ब ा शौक है अच्छा खाना बनाना और दूसरों को खिलाकर, खुद तृप्त होना। खासकर जब से मैंने परहेज़ शुरू किया है, तब से वह दूसरों को खिलाकर ही अपना शौक पूरा कर पाती हैं। उनके बनाए हुए आलू के पराठे, मूली के पराठे, मेथी के पराठे, बेसनी पराठे, अजवायनी पराठे, वग़ैरा-वग़ैरा का स्वाद, घर में बनाए हुए कई तरह के अचारों के साथ, चंपक भाई भी पिछले कुछ सालों में, कई बार ले चुके हैं। और सुबह साढ़े आठ बजे के क़रीब वह जब भी आते हैं; इसी इरादे से आते हैं।

उस दिन घोर निराशा की-सी हालत में वो उठते हुए बोले, 'अच्छा तो चलता हूँ, कहीं घर में भी नाश्ता खत्म न हो जाए।'

चंपक भाई चले गए नाश्ते की फिक्र में, मैं फिर अपने काम में लग गया।

उसी दिन रात को प ोसी कपूर साहब की ल की आई। प्लेट में रखा एक ब ा-सा बाऊल हाथ में था। ब े अधिकार के से स्वर में बोली, 'लीजिए यह सूप, अभी पी लीजिए, गर्म गर्म।'

'पर मैं तो. . .'

'हम जानते हैं आप वैजीटेरियन हैं। मम्मी ने यह वेजीटेबल सूप आपके लिए बनाया है, खासकर।'

'पर मेरी बात तो सुनो. . .'

'मुझे कुछ नहीं सुनना। चुपचाप पी लीजिए। खाना अभी बन रहा है, थो ी देर में लाऊँगी।'

'ओहो, देखो खाना तो आजकल मैं खा ही नहीं रहा हूँ। सिर्फ़ दूध, फल और कच्ची सब्ज़ियाँ लेता हूँ। देख लो, फ्रिज भरा प ा है।'

वह कुछ देर चुप रही, फिर बोली, 'अच्छा यह सूप तो पी लीजिए।'

उसके हाथ से प्लेट लेकर मैंने मेज़ पर रखते हुए कहा, 'अभी बहुत गर्म है, तुम निश्चिन्त रहो, मैं थो ी देर बाद पी लूँगा।'

आधे घंटे बाद वो खाली बर्तन लेने आई, तो बोली, 'आप हैं ब े खराब, अंकल।' मैंने सवालिया नज़रों से उसकी तरफ़ देखा, तो कहने लगी, 'कितने दिनों से तबीयत खराब है और आपने बताया तक नहीं।'

'पर तुम्हें किसने. . .'

'क्यूँ, हमें क्या दिखाई नहीं दे रहा है? डैडी ने कहा है, आप यह बीच का दरवाज़ा खोल दीजिए, ताकि रात को भी आकर हम देख तो सकें कि कैसी तबीयत है आपकी। प ोसी ही प ोसी के काम नहीं आया तो कौन आएगा।'

'तुम चिन्ता मत करो सीमा, मैं तो ठीक हूँ।'

सीमा चली गई पर मेरे सामने एक ब ा भारी प्रश्नचिन्ह छो  गई, जो बार-बार सिर उठाकर आ ख ा होता था। इस परिवार के साथ तो काफ़ी अर्से से बातचीत भी नहीं रही, फिर अचानक यह हमदर्दी और

अपनापन क्यूँ? आखिरकार यही सोचकर मन को समझाया कि ज़माने में अपनापन अभी मिटा नहीं, काफ़ी मात्रा में बाक़ी है।

दूसरे दिन सवेरे विजयसिंह आए। आते ही पहले तो दोस्ती पर भाषण दिया, कुछ आदर्श दोस्तों के उदाहरण बताए। फिर यह याद दिलाया कि हम एक ही इलाक़े के रहनेवाले हैं। हमारे गाँव पास-पास हैं। हमारे बाप-दादा एक-दूसरे के ब े अच्छे दोस्त थे। एक बार गाँव में डाका प ा तो उनके पिताजी ने, अपनी जान को खतरे में डालकर, हमारे परिवार की रक्षा की थी। और फिर मुझे फटकारते हुए-से बोले, ' ब े अफ़सोस की बात है भाईसाहब। शर्म के मारे मैं तो ज़मीन में ग ा जा रहा हूँ। आपने हमें इतना पराया समझा कि अपनी बीमारी की खबर तक हमें नहीं दी। माना कि पिछले कुछ अर्से से आपके पास आ नहीं पाया। अपने ही झंझटों में कुछ इतना उलझा रहा हूँ कि क्या बताऊँ, पर आपसे यह उम्मीद बिल्कुल नहीं थी भाईसाहब कि आप हमें इस लायक़ भी नहीं समझेंगे कि बुला भेजते। '

' पर सिंह साहब आप . . . '

' अजी क्या सिंह साहब भाई साब, हमें तो ब ा नाज़ था आपकी दोस्ती पर। ब े फ़ख्र से मैं ज़िक्र किया करता था , आपकी और अपनी दोस्ती का। अब क्या मुँह दिखाऊँगा लोगों को, जब उन्हें पता लगेगा कि आपने . . '

' मेरी बात तो सुनिए आप . . . '

' अब कुछ नहीं सुनूँगा मैं। आप की भाभी तो रो-रोकर हलकान हुई जा रही हैं। मुँह अँधेरे से मेरे पीछे प ी है, कि जाओ भाईसाहब की तबीयत पूछ कर आओ। मैंने सुरेश को भी फ़ोन कर दिया है कि एक-दो दिन में ही बहू को लेकर चला आए। '

' लेकिन सिंह साहब . . . । ' मैंने कई बार कोशिश की, अपनी बात कहने की, लेकिन विजयसिंह थे कि मुझे बोलने का मौक़ा ही नहीं दे रहे थे। इस बार भी मेरी बात को अनसुना करते हुए बोले, ' क्यों वह आपका कुछ नहीं लगता क्या? उसे तो आपने गोद में खिलाया है। आपका हक़ है उस पर, और उसका फ़र्ज़ है आपकी सेवा करना। मैंने साफ़ कह दिया है उसे, वहाँ ससुराल में प े रहने की जरूरत नहीं, दोनो जने यहाँ आकर शर्मा अंकल के साथ रहो और उनकी देखभाल करो। भाभी जी के होते हुए भी आपका तो एक कमरा खाली ही प ा रहता है। बहू घर में होगी तो भाभी जी को भी सहारा रहेगा। अब उनकी उम्र भी कोई काम करने की थो ी ही है। अच्छा तो अब मैं चलता हूँ। आफ़िस के लिए देर हो जाएगी। ' कहते-कहते विजयसिंह उठ ख े हुए और मैंने फिर एक बार कोशिश की। मैंने कहा, ' सिंह साहब मैं तो बिल्कुल ठीक हूँ, भला-चंगा . . ' पर मेरी बात फिर अधूरी ही रह गई। वह बोले, ' बस-बस, अब आपको कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। हमारे होते हुए आपको तकलीफ़ हो धिक्कार है हम पर। ' और वो चले गए। सीमा के प्रश्नचिन्ह से भी कहीं ब ा प्रश्नचिन्ह ख ा करके।

दिन में स्कूल जाने से पहले सीमा फिर आई। बीच के दरवाज़े का ताला खोल देने की बात को लेकर बहुत इसरार करने लगी। मैंने चाभी ढूँढ़ने का वायदा करके पीछा छु ाया। कपूर साहब भी आए, हमदर्दी ज़ाहिर करके चले गए। दोपहर को श्रीमती शीला सिंह आईं। विजयसिंह की बहुत-सी बातों को दोहराकर चली गईं। मैंने कुछ भी कहना फ़िज़ूल समझकर चुप रहना ही ठीक समझा। लेकिन प्रश्नचिन्ह और ब े, और ब े होते जा रहे थे। दोपहर को एक घंटा सोने की आदत थी, लेकिन उन्हीं प्रश्नचिन्हों की बदौलत उस दिन सो भी नहीं सका।

उसी दिन शाम को प्रश्नचिन्हों ने और भी विराट रूप ले लिया। सात बजते-बजते बकुल भाई भट्ट आए। यह मेरे मकान मालिक हैं। व्यापारी आदमी हैं। पैसे से ब ा, आदमी को तो क्या, भगवान को भी नहीं मानते। दो के चार और चार के आठ कैसे बनें, दिन-रात इसी उधे -बुन में रहते हैं। मुक़द्दर भी साथ दे रहा है। जहाँ भी हाथ डालते हैं, मुनाफ़े में रहते हैं। अनाज की मंडी से लेकर शेयर बाज़ार तक में उनको सब जानते हैं। संगीत सम्मेलन से लेकर मुशायरे तक में रुचि रखते हैं। साल-छः महीने में जब भी कभी मिलते हैं, तो कुछ शेर सुनाने की फ़र्मायिश जरूर करते हैं। बस इतनी ही समानता है हमारी रुचियों में कि शेर मैं लिखता हूँ और उन्हें सुनने का शौक़ है। अब सुनने का शौक़ है, तो समझने की भी सलाहियत हो, यह तो जरूरी नहीं। एक बार गायक जगजीतसिंह का प्रोग्राम था। हम दोनों ही वहाँ थे। मैं एक श्रोता की हैसियत से और वो अपने चंदे के ज़ोर पर कार्यक्रम के आयोजकों से जु े, सहायक सेक्रेटरी के रूप में। गायक का स्वागत उन्होंने ही किया, अपनी अधकचरा ग़ज़ल के साथ। एक शेर आप भी सुन लीजिए।

ग़ज़ल का तर्जुमा है जगजीत सिंहजी,

भी की आवाज़ है जगजीत सिंहजी।
शेर समझने की थो ी-सी सलाहियत होगी तो आप भी जरूर शर्म-सार हो जाएँगे। लेकिन बकुल भाई ब चहक-चहककर सुनाते रहे। और उन्हें दाद देने वालों की भी कमी नहीं थी। खैर...

उस दिन बकुल भाई को देखकर कुछ हैरानी तो ज़रूर हुई पर फिर सोचा, शायद शेर सुनने की हु क उठी होगी। लेकिन बात उन्होंने भी उसी सुर में की, जो सुर सवेरे से सुनता आया था। उलाहना देते हुए बोले, वाह भाईसाब वाह। आपका भी जवाब नहीं। अरे आपस में इतना संकोच काहे का। ज़रा एक बार टेलिफ़ोन कर देते, हम दौ -दौ आते, उसी समय डॉक्टर को भेज देते। पर हाँ, नम्बर सारे बदल गए हैं न, आप फ़ोन करते भी तो कैसे। पर आपका नम्बर भी तो बदला होगा। खैर... यह लीजिए मेरा कार्ड।.. च.. च. कितनी तबीयत खराब कर ली और हमें बताया तक नहीं। पर अब फ़िकर नहीं करना। अच्छे से अच्छा डॉक्टर बुलाइए, और आप चाहें तो कुछ दिनों के लिए अच्छे-से नर्सिंग होम में जाकर आराम कीजिए...

पर बकुल सेठ आप तो जानते हैं, मेरे दामाद का अस्पताल है इतना ब ा। ज़रूरत होगी तो..

पर मैं यह भी जानता हूँ कि आप हैं ब संकोची स्वाभाव के। किसी को भी तकलीफ़ दे के राज़ी नहीं। कहते कहते उन्होंने अपने सफ़ारी कोट की जेब में से एक लिफाफ़ा निकाला और मेरे पास रखते हुए बोले, यह रख लीजिए।

यह क्या है? मैंने पूछा।

बकुल सेठ उठते हुए बोले, कुछ नहीं, पच्चीस हज़ार का चेक है।

लेकिन क्यूँ बकुल सेठ, मुझे जरूरत नहीं है।

और भी दो-चार हज़ार की जरूरत हो तो फ़ोन करवा दीजिएगा। पैसा कोई आपसे अच्छा थो ही है। आप अच्छी तरह इलाज़ करवाइए अपना। मुझे एक मीटिंग में जाना है। चलता हूँ।

मैं सुनिए, सुनिए पुकारता रहा, पर वो नहीं रुके। दरअसल पैसे के एक पुजारी के मुँह से यह बात सुनकर कि पैसा कोई आपसे अच्छा थो ही है, - मैं भावुक हो उठा था, और मेरा गला रुँध आया था। मेरी आवाज़ भी गले में ही रह गई हो शायद।

बकुल सेठ का दिया हुआ लिफ़ाफ़ा और कार्ड मैंने तकिए के नीचे सरका दिया। बहुत देर तक विचारों में खोया रहा। कुछ पढ़ना चाहा पर दिल नहीं लगा। उस रात ठीक से सो भी नहीं पाया। अचानक चारों तरफ़ से इतनी अधिक मिठास और अपनापन पाकर दरअसल मैं कुछ घबरा गया था। मिठास के इन पर्तों के नीचे कौन-से स्वार्थों की क वाहट को छिपाने की कोशिश की जा रही है, बस यही सोचता रहा।

अगले दिन सवेरे मैं लेटा हुआ ही था। जनमाबाई आई और कमरे में झा लगाने लगी, बार-बार उसके नाक से सड़ूँ-सड़ूँ की आवाज़ आ रही थी। मैने पूछा, ज़ुकाम हो गया क्या, जमनाबाई?

वह कुछ नहीं बोली। कुछ देर बाद अचानक उसने अपना सिर मेरे पैरों पर रख दिया और फूट-फूटकर रोने लगी। मैं घबराकर उठ बैठा। ब ी मुश्किल से अपने पाँव छु ाये। उसके कंधों पर हाथ रख कर मैंने कहा, क्या हुआ जमनाबाई? कुछ बताओ तो। वह अपनी रुलाई को रोकने की कोशिश करते हुए भी रोक नहीं सकी थी। मैंने फिर पूछा , बाल-बच्चे सब ठीक-ठाक तो हैं?

वह सिर झुकाए आँसू बहाती रही। मैंने उसकी ठो ी को ऊँचा कर उसकी सा ी के एक छोर से उसके आँसू पोंछते हुए कहा, कुछ बताओगी नहीं तो कैसे पता लगेगा, क्या हुआ?

उसने एक बार मेरी तरफ़ देखा। बहुत ही भय और कातरता थी उसकी दृष्टि में। भोलेपन से बोली, आप सचमुच मरने वाले हैं क्या?

मुझे कुछ हँसी आई, कुछ हैरानी भी हुई। मैंने पूछा, तुम्हें किसने कहा कि मैं मरने वाला हूँ?

सभी तो कह रहे है

सभी कौन?

यह कपूर मेमसाब...

क्या कह रही थी?

मेरे को तो कुछ नहीं बोली। माँ-बेटी बात कर रही थीं।

हाँ, हाँ बताओ न, क्या बात कर रही थीं? डरती क्यों हो, मैं उन्हें बताऊँगा थो ही कि तुमने कुछ कहा है।

कह रही थीं, बुड्ढ़ा मरने से पहले बीच का दरवाज़ा खोल दे तो कमरे पर कब्ज़ा कर लें।

अच्छा, और...

'वो सिंह साब की बीबी अपने साब से कह रही थीं . . .एक बार बेटे और बहू को घर में बिठा दो, फिर की फिर देखी जाएगी, फिर कौन निकालता है।'

'हाँ, तो यह बात है ! पर तुम बिल्कुल चिन्ता न करो जमनाबाई। मैं अभी मरने वाला नहीं हूँ। बिल्कुल ठीक-ठाक तो हूँ।'

जमनाबाई ने फिर एक बार मेरी तरफ़ देखा और आश्वस्त-सी होकर झाड़ू सँभालते हुए बोली, 'काकी कब आ रही हैं?'

'आ जाएँगी कुछ दिनों में,' मैंने कहा।

दो दिनों से परेशानी और शशोपंज के उम ते-घुम ते बादल क्षणभर में छँट गए। पूरी तस्वीर साफ़ होकर सामने आ गई। तभी मुझे ख्याल आया, बकुल सेठ का। तकिये के नीचे से उनका लिफ़ाफ़ा निकाला। खोला। चैक के साथ अँग्रेजी में टाइप किया हुआ एक काग़ज़ भी था, जिस पर मेरे हस्ताक्षर की अपेक्षा की गई थी। उस आलेख का सार यह था - 'मैंने बकुलचंद करमचंद से पच्चीस हज़ार रुपए कर्ज लिया है। बदले में मेरे मरने के बाद यह मकान, जिसमें मैं रहता हूँ, बकुलचंद के कब्ज़े में चला जाएगा। मेरे वारिसों को भी इस पर कोई एतराज नहीं होगा और वे अपना कोई हक़ नहीं जतायेंगे।'

वह आलेख पढ़कर, न मुझे कुछ हैरानी हुई न परेशानी, बल्कि ज़ोर-ज़ोर से जी खोलकर हँसने का जी हुआ। पर जमनाबाई कहीं यह न समझ ले कि मैं पागल हो गया हूँ, मैं हँस भी नहीं पाया।

यहाँ यह बता दूँ कि जमनाबाई पिछले तीस साल से इस घर में काम करती है। नई नवेली दुल्हन से लेकर सास बनने तक के सारे रूप और उसकी ज़िन्दगी के सारे उतार-चढ़ाव हमने देखे हैं। शादी के चौथे दिन ही उसकी सास उसे हमारे घर लेकर आई थी। बोली थी, 'कल से यही आपका काम किया करेगी।' सुन्दर नैन-नक्श, गठीला गोरा शरीर, हँसमुख। लाँगवाली सा ी पहने हुए। लगता था, जंगल से किसी हिरणी को पक  लाई है उसकी सास। हिन्दी का एक अक्षर भी नहीं जानती थी। शुरू-शुरू में ज़्यादातर इशारों से ही बात समझानी प ती थी उसे। समय गुज़रता गया। कुछ ही सालों में कई बच्चों की माँ बन गई। पति शराब पीकर मारता था। उम्र से पहले ही रूप ढ़लने लगा। ल कियाँ अपने-अपने ससुराल चली गईं। दोनो ल के शादी करके अलग रहने लगे। पति मर गया। यह अब भी कई घरों में काम करके अपना गुज़ारा करती है। लेकिन इस घर से इसे कुछ खास ही लगाव है।

मैंने पुकारा, 'जमनाबाई।'

वह दूसरे कमरे में पोंछा लगा रही थी। हाथ में फटका लिए आकर सामने ख ी हो गई। मैंने पूछा, 'बकुल सेठ के यहाँ भी तुम काम करती हो न?'

'हाँ करती हूँ, पर कल मैं नहीं गई।'

'खैर, कोई बात नहीं। आज शाम को तुम पाँच बजे आ सकोगी, कुछ देर के लिए।'

'हाँ-हाँ, कुछ काम है?'

'दो-चार लोगों को चाय पर बुलाना है। तुम आकर सँभाल लेना।'

'जरूर -'

'और हाँ, वो सामने शीशे के पास रुपए प े हैं। जाते समय बीस रुपए ले जाना। कुछ मीठे और नमकीन बिस्कुट लेती आना। फल तो फ्रिज में काफ़ी होंगे। परसों ही तुम लाई थीं। और हाँ जाते-जाते कपूर साहब, सिंह साहब और चम्पक भाई को कहती जाना कि शाम को पाँच बजे बुलाया है, ज़रूर आ जायें। बस और कुछ मत कहना।'

'और बकुल सेठ?'

'नहीं उनके यहाँ जाने की जरूरत नहीं, मैं फ़ोन कर दूँगा।'

शाम को थो ा-बहुत आगे-पीछे, चारों सज्जन आ गये। पर चारों के चेहरे पर एक-दूसरे को देखकर हवाइयाँ-सी उ  गईं। सभी कुछ हैरान-से, परेशान-से नज़र आ रहे थे। दरअसल उनमें से किसी ने भी यह नहीं सोचा होगा कि उसके अलावा कोई और भी यहाँ होगा।

जमनाबाई पहले ही तैयार थी। फ़ौरन बिस्कुट, फल वग़ैरा लाकर रख गई। मैंने कहा, 'मैं बहुत-बहुत शुक्रगुज़ार हूँ आप सबका। मेरी बीमारी की खबर सुनकर आप लोगों ने जो चिन्ता और सहानुभूति प्रकट की है, उसके लिए मैं बहुत ही आभारी हूँ। मैं बहुत ही खुशकिस्मत समझता हूँ अपनेआप को, कि आजकल के ज़माने में भी, जब इंसान को अपनी ही भागदौ  से फुर्सत नहीं मिलती, आप लोगों से मुझे अपार प्यार और

अपनापन मिला। आप जैसे हितैषी मित्रों को पाकर मैं तो धन्य हो गया। . . अरे-रे, आप लोग इस तरह हाथ खींचकर क्यूँ बैठ गये। खाते भी जाइए न।

मैंने पहले फलों की प्लेटें सबकी तरफ़ बढ़ाईं, फिर बिस्कुट की। सभी ने कुछ न कुछ उठाया ज़रूर, लेकिन मरे-से मन से। कोई भी कुछ बोला नहीं। सन्नाटा-सा छाया रहा। फिर मैंने ही चुप्पी तो ी। बोला, देखिए, वैसे तो जो भी इस दुनियाँ में आया है उसे जाना ही है, एक न एक दिन। और किसका बुलाबा किस दिन आ जाये, कहा नहीं जा सकता। किसी शायर ने कहा है न. . .

क्या भरोसा है ज़िन्दगानी का,
आदमी बुलबुला है पानी का।

शेर सुनकर बकुल सेठ ज़रा मुस्कुराए। उन्होंने दोहराया भी - बुलबुला है पानी का ह. . ह. .

मैंने कहा, पर मैं आप सबको यह बताना चाहता हूँ कि कुछ ही दिन पहले मैंने अपना पूरा मेडीकल चेकअप करवाया था। मैं बिल्कुल ठीक-ठाक हूँ। मुझे कोई बीमारी नहीं। और डॉक्टरों के अनुसार अगले कुछ सालों तक मेरे मरने का भी कोई अंदेशा नहीं। मैं पिछले कुछ दिनों से अपने काम में लगा रहा हूँ। दाढ़ी बनाने का भी ध्यान नहीं रहा। मेरी उस हालत को देखकर किसी हितैषी ने समझा कि मैं बहुत बीमार हूँ। इस ख़बर ने आप सबको भी परेशानी में डाल दिया। इसका मुझे बेहद अफ़सोस है।

बाकी तीनों सज्जनों ने ब ी क वी निगाहों से चंपक भाई की तरफ़ देखा। चंपक भाई भी क्षणभर के लिए भयभीत-से नज़र आए, पर फिर उन्होंने अपनी बत्तीसी निपोर दी। मैंने कहा, इस समय मेरी सेवा का मौका हाथ से निकल जाता देखकर आप लोगों को जो निराशा हुई, उसके लिए भी मैं बहुत दुखी हूँ। . . आदमी सपने देखता है, कुछ योजनाएँ बनाता है, और योजनाएँ पूरी न हों तो निराशा भी होती ही है, थो ी-बहुत। लेकिन आप लोगों की निस्बत, उम्र में मैं ही सबसे ब ा हूँ। सबसे पहले मेरे ही जाने की संभावना है। इसलिए कृपया आप हौसला न हारें। ईश्वर ने चाहा तो मेरी सेवा का मौका आपको ज़रूर मिलेगा।

सबसे पहले बकुल सेठ उठे, चेहरे पर मुस्कान लाते हुए बोले, आज भी एक मीटिंग है। मैं चलूँ।

मैंने उनका दिया लिफ़ाफ़ा बढ़ाते हुए कहा, यह रख लीजिए। धन्यवाद।

उनके बाद उठे विजयसिंह और कपूर साहब। विजयसिंह बोले, दफ़्तर में बीबी का फ़ोन आया कि आपने बुलाया है, तो मुझे ब ी चिन्ता हो गई थी। कपूर साहब की जैसे ज़बान बंद थी। ब ी मुश्किल से बोल पाए, अच्छा नमस्ते।

चंपक भाई के हाथ में जन्म-पत्रियों का बण्डल था। शायद इसीलिए बैठे रहे। मैंने कहा, आपका तो डबल-डबल शुक्रिया चंपक भाई। आपकी वज़ह से एक बहुत अच्छा प्लॉट मिल गया।

हैरान से होते हुए चंपक भाई ने कहा, प्लॉट? मैंने तो प्लॉट का धंधा ही कभी नहीं किया।

ज़मीन का प्लॉट नहीं। कहानी के प्लॉट की बात कर रहा हूँ मैं।

बात उनके पल्ले प ी या नहीं, पता नहीं, पर खिसियानी-सी हँसी हँस ज़रूर दिये। बोले, ये जन्मपत्रियाँ. . .।

नहीं चंपक भाई, सच बात तो यह है कि मुझे ज्योतिष का ज्ञान बिल्कुल नहीं।

अच्छा, तो चलूँ।

मैंने हाथ जो ते हुए कहा, आते रहिएगा।

जाते समय चंपक भाई के चेहरे पर भी वही क्रोध और घृणामिश्रित-सा भाव था, जो औरों के चेहरों पर दिखाई दिया था।

मु कर देखा तो जमनाबाई पता नहीं कब से दरवाज़े की देहलीज़ से लग कर ख ी थी। मुझे देखता देखकर, उसने झट अपने आँसू पोंछ लिए।

मैंने कहा, अरे, अब क्या हुआ?

बोली, कुछ नहीं। ये तो ख़ुशी के आँसू हैं।

*****

## ख़ूबसूरत यादें

**अंशु चक्कू**

इन ख़ूबसूरत हसीन होठों का यूँ मुस्कुराना,
लगा हमारे दिल को मिला इक दिलकश नज़राना।

यूँ नीदों से उठकर ख़्वाबों में जगाना,
बस खूबसूरत यादों से इस तरह अपना दिल बहलाना।
हम न जानते थे इन शोख़ तितलियों का मचलना,
आज ज़िन्दगी का फिर से इक नई फ़िज़ा से मिलना।
कि कब कम हुई हैं इन मुहब्बतों की गहराईयाँ,
आज उनकी आँखों में फिर वो पैमाने नज़र आए।
इन दीवारों से लिपटी ये तस्वीरें देखकर,
वो मुस्कुराहट लिए हमसे मिलने चले आए।
कि भूले से मिला है इन तन्हाईयों का आसरा,
आज रात वो खूबसूरत यादों को सजाने चले आए।
बहुत खूबियाँ हैं उनकी इस बेवफ़ाई में भी,
कि अपने दिल का यह दाग़ वो मिटाने चले आए।
आज था इस रात का आलम ब ा ही तूफ़ानी,
वे दिल की बेबसी को बहलाने चले आए।
रोक लेते हम फ़िज़ा से पूछकर उनका पता,
मगर वो खूबसूरत यादों में अपनी दुनियाँ बसाने चले आए।

## आम्र बौरों में लौटूँगा

**डा. परेश**

इस कारण से नहीं
तो उस कारण से
मैं इस बस्ती को छो  जाऊँगा
माने कि इस दिल की बात मान
तुम्हें अकारण सताने के लिए
कुछ दिनों को मेरे प्यार !
मौसम की तरह बदल जाऊँगा
माने कि आए जब पतझ
तो उदास किसी टहनी से
आखिरी पत्ते-सा झ  जाऊँगा।
अपनों को सताने की आदत
और फिर उदास हो जाना
यह सब मौसम की तरह है
मौसम -
जो धरती के साथ-साथ
मेरे तन पर उतरता है
मन पर उतरता है
मौसम रात भर अजगर-सा बैठ कर
सुबह जो गुलेल से एक सूरज
आसमान पर फेंकता है और फिर
शरारती बच्चे-सा किसी भी
गली में छुप जाता है।
छुप जाऊँगा मेरे प्यार !
तुम्हें सताने के लिए
मैं किसी भी बस्ती की मामूली गली में
छुप जाऊँगा।
तब तुम
झरे हुए पत्तों के ढ़ेर से एक कोंपल उठाकर
अपने वक्ष पर चिपकाओगी
और पाओगी
वह प्यार अब आम्र-मंजरी बन
ऊपर की शाख से झूल आया है।
यह आम्र-बौर ही मैं हूँ मेरे अंतरंग!
तुम्हारे पास से जाने के बाद
बस मैं आम्र-बौरों में लौटूँगा।
तुम मेरी ऋतु हो न मधुवंती
और मैं तुम्हारा प्यार
आओ इस अनुभूति को
हम उस गिलहरी-सा कुतरें।

****

## तुम्हारा प्यार

**डा . किशोर काबरा**

मोरपंखी आँख में
दुबका हुआ
शिशु-सा तुम्हारा प्यार
कुछ ऐसा हठीला हो गया है,

हाँ, तब तुम सूरज को देखना
कि वह कब ढ़लता है
क्योंकि बच्चे को अपने खिलौने से
प्यारी
कोई चीज़ नहीं होती
मेरे प्यार !
तुम पाओगी कि प्यार में
एक शिशु-मन के अतिरिक्त तुम
मुझसे कुछ भी नहीं पाओगी
यहाँ तक कि अख़रोट, आडू और अंजीर में भी
तुम मुझे छुपा हुआ पाओगी।
तुम्हारे बिना जाने
हरियाली की तरह
तुम्हारे तन पर
मेरी याद
हरहराएगी

दृष्टि का आँचल पक कर
मचलता है,
बूँद बनकर उछलता है,
फ़र्श गीला हो गया है।
तर्क से
कटता कहाँ
बस, झेलता है,
दूब के मानिन्द
दिन-दिन फैलता है।
कुछ गँठीला
कुछ कँटीला
हो गया है।
तुम्हारा प्यार
कुछ ऐसा हठीला हो गया है।

*****

# मानवता का मेरुदण्ड है संस्कृति

**डॉ. वीरेन्द्र कुमार वसु**

संस्कृति स्वयं में व्यापक अर्थ का व्यंजक शब्द है। संस्कृति का सहज अर्थ है परिमार्जन, शोधन, परिष्करण और संस्करण। व्यक्ति समूह में ही मिलकर समाज, देश, राष्ट्र के निर्माण में अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। जैसे लोग, वैसा समाज और जैसा समाज, वैसा देश। अँग्रेजी में जिसे 'कल्चर' कहते हैं, वस्तुतः संस्कृति की कृष्टि है, जिसका प्रयोग कृषि के क्षेत्र में ही सीमित था अर्थात् भूमि का परिशोधन। शनैः-शनैः इसका अर्थ-विस्तार होता गया और व्यापक अर्थ में इसका 'संस्कृति' के रूप में अर्थ-ग्रहण होने लगा।

संस्कृति और सभ्यता का गहरा सम्बन्ध है। संस्कृति में आध्यात्मिक दिशा का बोध होता है और सभ्यता में सामाजिक-पक्ष का। दोनों व्यवहारिक धरातल पर अन्योन्याश्रित हैं। संस्कृति आंतरिक विकास के चरणों की दर्शिका है तो सभ्यता उसके वाह्य विकास-क्रम की संकेतिका। कोई सभ्य हो सकता है, बाहर से दीख भी सकता है, किन्तु भीतर से वह संस्कृत भी हो यह आवश्यक और निश्चित नहीं।

आज की सभ्यता संस्कृति से सम्पृक्त प्रतीत नहीं होती। संस्कृति वाह्य आवरण की अपेक्षा नहीं करती, वह तो अन्तर से सम्बद्ध है। मानव अपने व्यक्तित्व को यदि समझ ले और तदनुकूल यदि आचरण करे तो उसके व्यक्तित्व की सार्थकता प्रकट होती है। 'मैं' और 'तुम' - इन दो शब्दों में दोनों पक्ष समाविष्ट हैं। पर इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा तत्व भी है जिसे निरुक्तकार यास्क ने अन्य शब्द द्वारा व्याख्यायित किया है। यास्क के अनुसार 'अ' अर्थात् नहीं है जो 'न्य' अर्थात् आनेय या ले आने योग्य। इस अर्थ से अन्य का दूरवर्ती होना सिद्ध होता है। 'मैं' तो व्यक्तित्व विदित है। 'तुम' अर्थात् सम्बोधित व्यक्ति का व्यक्तित्व विदित है। कुछ अविदित भी है इसमें। जितना मैं स्वयं के बारे में जानता हूँ, उतना अन्य नहीं जानता।

वैसे तो प्रत्येक मनुष्य हा -माँस का बना पुतला भर है। पार्थिव शरीर तो वाणी द्वारा सार्थक होता है। वाक्य या शब्द आकाश का गुण है। वैदिक वाङ्मय में यही पंच भूतों के ज्ञान का संकेतक है। क्योंकि आकाश के पश्चात् शेष चार भूत उत्पन्न होते ही हैं। आकाश सबसे ऊपर है और भूमि सबसे उत्तरवर्ती। वाणी पाँच भौतिक अस्तित्व की अभिव्यंजना है। वेद त्रयी में यह 'ऋक्' शब्द द्वारा सार्थकता पाती है। वाणी के उपरान्त दूसरा प्रबल अंश मन है। मनुष्य की मनुष्यता मनन शक्ति से ही सिद्ध होती है। मनन ही मनुष्य को महत्ता प्रदान करता है। जो मनुष्य मननशील नहीं, उसे मनुष्यता की पदवी नहीं मिल सकती।

तीसरा तत्व है प्राण। प्राण आत्मा की छाया है। यह सदैव आत्मा के संग ही रहता है। जब सब सुप्तावस्था में रहते हैं, प्राण और आत्मा जाग्रतावस्था में रहते हैं। प्राण तत्व की गरिमा ऋषियों ने भी स्वीकार की है। छान्दोग्य और वृहदारण्यक भी प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहते हैं। आयु में इन्द्रियादि से यह पहले का है और श्रेष्ठ भी इसलिए कि गुणों की दृष्टि से इसे कोई छू नहीं सकता। वेदत्रयी में यही प्राण 'साम' है।

मानव के व्यक्तित्व-विकास के कई चरण हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया संयुक्त हैं। वाणी तो विज्ञानरूप है, मन कर्म का प्रेरक और प्राण भक्ति-भावना का प्रतीक। साम में संगीत है और प्राण में उद्‌गीथ का गाना। अब यदि 'तुम ' पर विचार करें तो यह 'मुझसे ' बाहर है। चक्षु मेरे व्यक्तित्व का सम्बंध दूसरों के साथ स्थापित करने वाले हैं। बाहर के संसार का स्पष्ट बोध तो इसी चक्षु से होता है। तत्पश्चात् आता है श्रोत। सुनकर भी अर्थात् श्रवण से भी बहुत कुछ ज्ञात होता है।

सबों का समवेत समुच्चय है आचरण। यही आचरण किसी के चरित्र का निर्माण करता है - अच्छा या बुरा। कोरी कल्पनायें तो सबके पास हैं, पर तदनुरूप आचरण करने वाले हैं कितने ! यजुर्वेद ने इस पक्ष को बहुत स्पष्ट कर दिया है -

'ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये।
चक्षुः श्रोतं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणपानौ।।'

तात्पर्य यह कि मैं ऋग्वेद-रूपी वाणी को प्राप्त होता हूँ, यजुर्वेदी-रूपी मन को प्राप्त होता हूँ और सामवेद-रूपी प्राण को प्राप्त होता हूँ। मैं चक्षु और श्रोत को प्राप्त होता हूँ। मेरी वाणी का ओज, मेरी समस्त शक्तियों का सम्मिलित ओज और मेरे प्राण तथा अपान की क्रिया, सब मेरे साथ रहें। यही मेरी सम्पदा है, यही मेरे व्यक्तित्व की आभा है। मेरी आत्मा का मूल्य इन्हीं के द्वारा आँका जाएगा। स्पष्ट है कि मात्र मनुष्य-रूप होने से कुछ नहीं होता। जब तक उसमें मानवीय गुणों का समावेश न हो, शुभ और पावन-निश्छल मन-प्राण न हो, तब तक मानव मानव कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

मानव का आभ्यान्तर पक्ष भाव, ज्ञान एवं कर्म का समुदाय है। कर्म का वाह्य रूप आचरण में व्यक्त होता है। ज्ञान की अभिव्यक्ति वाणी द्वारा होती है। किन्तु भाव अपनी अभिव्यक्ति का द्वार कहाँ ढूँढ़े? चक्षु दर्शन और ज्ञानार्जन का साधन है। मन कर्म का प्रेरक है। पर भाव का स्थान तो हृदय है। ज्ञान का स्वरूप स्वतः निर्मल है। गीता की उक्ति में इसे शोभन होना चाहिए। - 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

कर्म की समस्या गहन है। क्या करें, क्या न करें - इस अन्तर्द्वन्द्व से वंचित कोई नहीं। मानव कर्म किए बिना रह नहीं सकता। कर्म शुभ हों, भद्र हों - इसकी अपेक्षा तो रहती ही है। वेद ने तो संकेत दे ही दिया है - 'इद्रश्चमृंकयाति नो न नः पश्चात् अघनंशत्। भद्र भवति नः पठन्त।' अर्थात् यदि अघ ने हमारा पीछा न किया तो सामने निश्चित रूप से भद्र ही होगा। यदि मन में शुभ संकल्प जागृत होते रहे तो उनसे सदाचरण की प्रेरणा मिलती रहेगी। शिवत्व (कल्याणकारी भाव) के प्रतिकूल विचार करना ही पाप की ओर पग बढ़ाता है।

मानवता भाव से पूरित मन-प्राण ही संस्कृत व्यक्ति की सही कसौटी है। संस्कृति स्वयं में बहुत सूक्ष्म, परिष्कृत एवं पावन भाव की संवाहिका है। मानव हो और मानवता न हो उसमें तो मानव होने का मोल ही क्या है। संस्कृत व्यक्ति संकीर्ण नहीं, सहिष्णु होता है। उसका ज्ञान, उसकी विद्या विवाद के लिए नहीं। उसकी शक्ति का परीक्षण पर-पी न में नहीं, पर-रक्षण में होता है। उसका धन-वैभव मद और अहंकार के लिए नहीं, दीन-हीन-त्राण के लिए काम आता है। उसका श्रम दूसरों को आक्रांत करने के लिए नहीं, विश्राम देने के लिए होता है। इसी में मानव-योनि में जन्म लेने की चरितार्थता है।

यह संस्कृति ही समाज और देश को संस्कृत बनाती है। जहाँ निर्भयता हो, सभ्य आचरण हो, नारी-सम्मान की चेतना हो, अशक्त, कमजोर, निर्बल, निर्धन और पंगु को भी जहाँ समान जीवन जीने का अधिकार हो, ज्ञानी, संत-ऋषि, महात्मा और विद्वज्जन पूज्य हों, जहाँ शांति और सुख का साम्राज्य हो और जहाँ शील से पुष्ट तथा साधुता से अनुप्राणित हृदय विद्यमान हो, संस्कृति का निवास वहीं होता है। इन सबों के मूल में मानवता का समृद्ध भाव ही सन्निविष्ट है। इसीलिए तो यह कथन सर्वथा सार्थक है - 'मानवता का मेरुदण्ड है संस्कृति '।

## प्यार

**डॉ. भगीरथ ब ोले**

आस-आकाश का यह अमलतास है
प्यार मेरे लिये एक विश्वास है।

श्वॉस महका रहा मुक्त अहसास है।
कौन छे ` किसी दर्द को बेवजह,

भव्यता से भरा, दिव्यता से खरा,
छलछलाता हुआ उष्ण उल्लास है।
मन परिन्दा हुआ, जी रहा चाँदनी,
हर घुटन में अमर प्राण-वातास है।
छल सकेगा न मरुथल किसी को कहीं,
यह न आदत रही, यह न अभ्यास है।
एक दरबार जु ने लगा रात-दिन,
आम बातें यहाँ की बहुत खास हैं।
दूरियाँ चोट खाकर दुबकने लगीं,
एक मधुमास मन के बहुत पास है।

# तीन नाम

**बनाफर चन्द्र**

वे तीन थे। तीनों लोक की तरह अलग-अलग उनके तीन नाम थे। एक का नाम लाल था, दूसरे का बदन और तीसरे का शशि।

नाम की तरह उनकी जाति भी तीन थीं। जाति के आधार पर तीनों के नाम इस तरह बनते थे - लालसिंह, बदन मिश्रा और शशि गुप्ता। तीनों किशोर थे और साँप की तरह किशोर अवस्था की केंचुली उतार कर युवा अवस्था की बाम्बी में प्रवेश कर रहे थे।

उम्र के इस छोटे प ाव पर ही मनुवादी, वर्णव्यवस्था और जातिवाद से वो परिचित हो चुके थे। उसके बावजूद न तो उन्हें अपने नाम से मोह था न जाति से। जब तब अपनी सुरक्षा के लिए मौके-गरमौके नाम और जाति का इस्तेमाल कर लेते।

एक बार किसी छोटे से जुर्म में पक े गए तो नाम और जाति के आधार पर बिना डंडे खाये और बिना प्रता ित हुए ही थाने से छूट गये। बाकी ल के जो उनके साथ पक े गए थे उनकी अच्छी मरम्मत हुई।

पहा ी मंदिर के ढ़लान के ठीक नीचे वाली पुलिया पर शिकार की टोह में तीनों बहुत देर से बैठे हुए थे। और मंदिर में आने-जाने वालों को घूर-घूरकर चोर नज़र से देख रहे थे। उनके हाथों में कॉपी-किताबें थीं और कमीज़ की ऊपरी ज़ेब में कलमें खुली हुई थीं। तीनों इसी तरह स्कूल जाने के बहाने घर से निकलते। कभी इस पुलिया पर आकर बैठ जाते, तो कभी किसी दूसरे ठीये पर। कभी नाश्ता-पानी और फिल्म देखने की व्यवस्था हो जाती, और कभी खाली हाथ उन्हें लौटना प ता।

उनके पैरों में जो जूते थे मंदिर की सीढ़ियों से मारे हुए थे। मंदिर की सीढ़ियों से मारे हुए नए और अच्छे जूते दोस्त-यारों को भी बेच देते। इस तरह से अभी तक उनकी जेब और फिल्म खर्च निकलते जा रहे थे। इधर कुछ महीनों से जूता चोरी की शिकायतें बढ़ गई थीं। पुजारी ने श्रद्धालुओं के जूते-चप्पलों की हिफ़ाज़त के लिए एक पहरेदार बिठा दिया था। पुजारी को उनकी जेब-खर्च से ज्यादा चिंता अपनी आमदनी की थी।

जब से वह पहरेदार जूते-चप्पलों की निगरानी के लिए वहाँ बैठा था, उन बेचारों की जेबों पर डाका प गया था। तीनों क की में थे। वह पहरेदार उन्हीं की उम्र का था। पहले तो उसे पटाने की इन लोगों ने भरपूर कोशिश की। पर वह पटा नहीं, उल्टे उसने उन्हें झि क दिया। फिर उसे मारने की धमकी दी, फिर भी वह डरा नहीं। वरन् अक गया और उनकी पोल-पट्टी खोलने की धमकी दे डाली।

थक-हार कर तीनों उस पुलिया पर आकर बैठ गए थे और किसी दूसरे जुगा के चिंतन-मनन में लगे हुए थे। तीनों अपने-अपने ढ़ंग से सोच रहे थे और मंदिर आने-जाने वालों को घूर-घूर कर देख रहे थे। एक की नज़र पैरों में पहने जूते-चप्पलों पर थी। दूसरे की नज़र सोने की चेन और हार से सुसज्जित महिलाओं की गर्दन पर। शशि गुप्ता की नज़र जवान होती ल कियों की हिलती-डुलती छातियों पर टिकी हुई थी।

बदन मिश्रा आइडिया देने में माहिर था। लालसिंह ल ने-भि ने में और शशि गुप्ता हेरा-फेरी करने में। स्कूल जाने के लिए तीनों एक साथ घर से निकलते। कभी स्कूल पहुँच जाते और कभी बीच रास्ते ही गोल हो जाते। कोई न कोई आइडिया बदन मिश्रा के दिमाग में कौंध जाता और तीनों किसी ठीये पर बैठकर आइडिया को कार्यरूप में परिणित करने के लिए विचार-विमर्श करने लगते।

माँ-बाप सोचते कि ल के स्कूल गए हैं। पर स्कूल जाना उनके लिए उतना जरूरी नहीं होता जितना कि आइडिया को कार्यरूप देना। माँ-बाप को तो धोखा दे ही रहे थे, खुद को भी धोखा देने से कहाँ चूक रहे थे।

कॉलोनी में एक ऐसी हवा बह रही थी जिसके बहाव में कॉलोनी के अधिकांश ल के बह रहे थे। हर मोहल्ले में जवान होते ल कों के अलग-अलग गुट थे और ग्यारह बजे रात तक हर चौराहे पर गुटों के बीच

खुसुर-पुसुर होती रहती। कभी गुटों में झग ` भी हो जाते और मार-पीट भी। मोहल्ले में जीप आती और कसूरवारों के साथ बेकसूरवारों को भी उठा कर ले जाती। माँ-बाप जेब से भी तंग और दिमाग से भी। इसके बावजूद वो स्वीकार नहीं कर पाते कि उनके ल के बिग  रहे हैं।

कॉलोनी में कुछ माँ-बाप ऐसे भी थे जो अपने बेटों की गुडंगर्दी और अवारागर्दी के ठोस सबूत सामने होने के बावजूद भी बेटों को डाँटने-फटकारने के बजाए सबूत पेश करने वाले व्यक्ति को ही फटकार लगा देते। लालसिंह, बदन मिश्रा और शशि गुप्ता के माँ-बाप भी उन माँ-बापों से अलग नहीं थे। नतीजा, लालसिंह, बदन और शशि को जब कहीं और हाथ साफ करने का मौका नहीं मिलता तो जेब-खर्च के लिए बापों की जेबों पर हाथ साफ कर लेते।

तीनों हिम्मत वाले थे। जब भी किसी दूसरे गुट के ल कों से उनका झग ा होता, मार-पीट कर निकल जाते। फिर महीनों किसी के हाथ नहीं आते। जहाँ भी होते, मोहल्ले या स्कूल में, एक साथ होते। छोटे-मोटे वारदात भी एक साथ करते।

पुलिया पर बैठे-बैठे काफी देर हो चुकी थी। स्कूल से घर लौटने का समय हो रहा था। पर जेब-खर्च के लिए अभी तक उनके हाथ कुछ भी नहीं लगा था। मंदिर में आने-जाने वालों को देखकर उनकी हथेली में खुज़ली हो रही थी। उनके दिमाग में ऐसा कोई आइडिया नहीं आ रहा था कि हथेली की खुजली वो मिटा सकें।

ंयार एक आइडिया दिमाग में आया है ं कुछ सोचते हुए बदन मिश्रा ने कहा तो लालसिंह और शशि गुप्ता उछल प `। ंकहो यार, जल्दी कहो, हथेली की खुजली साली बढ़ती ही जा रही है। ं

ंयह आइडिया कहने का नहीं है समझने का है। चलो पहले किसी स्कूटर की डिक्की साफ करते हैं। हाथ में पहले स्क्रू-ड्राइवर और कुछ पाने आ जाएँ फिर आइडिया का खुलासा करूँगा। ं बदन मिश्रा ने कहा और उठ ख ा हुआ। उसके पीछे लाल और शशि भी चल प `।

मंदिर के अहाते में और अहाते के बाहर ढ़ेर सारे स्कूटर ख ` थे। कुछ नये और कुछ पुराने। एक नये स्कूटर के करीब जाकर तीनों ख ` हो गए और डिक्की खोलने की तरकीब सोचने लगे। बदन मिश्रा उछलकर सीट पर बैठ गया। लालसिंह और शशि गुप्ता उसके आजू-बाजू ख ` हो गए। तीनों पढ़ाई और एडमीशन की चर्चा करने लगे ताकि आने-जाने वालों को लगे कि वो किसी स्कूल या कालेज के विद्यार्थी हैं और भविष्य की पढ़ाई को लेकर चिन्तित हैं।

ंयार डिक्की को एक झटका देकर देख। नहीं खुलती है तो पत्थर मारकर लॉक तो  दे। ं आने-जाने वालों की गति थो ी थमी तो बदन मिश्रा ने लालसिंह से कहा।

ंदेखता हूँ ं लालसिंह ने कहा और डिक्की के लॉक को जोर का झटका दिया। उसके झटके से डिक्की का तो कुछ नहीं बिग ा उल्टा उसका हाथ झनझना गया। उसने गुस्से में एक पत्थर उठाया और निशाना साधकर डिक्की के लॉक पर दे मारा। लॉक टूट गया। डिक्की में हाथ डालकर उसने प्लास्टिक का थैला निकाल लिया। डिक्की बंद किया, पत्थर को दूर फेंका और तीनों धीरे से वहाँ से खिसक लिए।

उनके हाथ में अब स्क्रू-ड्राइवर भी थे और छोटे-ब ` कई साइज़ के पाने भी। तीनों खुश थे कि ब ी सफाई से डिक्की पर हाथ साफ किया है। उन्होंने मु कर मंदिर की तरफ एक नज़र देखा और घर की तरफ चल प `।

ंहाँ, अब बताओ, स्क्रू-ड्राइवर और इन पानों को इस्तेमाल कहाँ करना है? ं रास्ते में एक जगह रुककर लालसिंह ने बदन मिश्रा से पूछा।

ंकॉलोनी में नए-नए स्कूटर बहुत आ गए हैं। कल से अपन रात के अँधेरे में स्कूटरों की स्टेपनी खोलेंगे और बेच देंगे ं फुसफुसाकर बदन मिश्रा ने कहा। लालसिंह और शशि गुप्ता उसके इस आइडिया पर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

ंपर यार, लोग स्कूटर तो घर के भीतर रखते हैं। स्टेपनी खोलेंगे कैसे? लालसिंह ने अपनी चिन्ता जताई।

ंबहुत से स्कूटर बाउन्ड्री में ख ` रहते हैं ं

ंलेकिन गेटों मे तो ताले रहते हैं ं

ंबाउन्ड्री फाँदने में कितना समय लगता है? बाउन्ड्रियाँ कोई बहुत ऊँची तो हैं नहीं। गेट पर ताला बंद रहेगा और हम बाउन्ड्री के भीतर अपना काम करते रहेंगे। किसी को शक भी नहीं होगा। ं

ˈयह सब तो ठीक है, पर स्टेपनी हम बेचेंगे कहाँ? ˈ लालसिंह ने फिर अपनी चिन्ता जताई।

ˈयार तुम लोग बुद्धू के बुद्धू ही रहे। शहर और कॉलोनी में इतनी सारी मैकेनिक की दुकानें हैं। आधी कीमत में कोई भी मैकेनिक या दुकानवाला खरीद लेगा। ˈ और सुनो, बदन मिश्रा ने आगे कहा, ˈमाल मैकेनिक की दुकान तक पहुँचाने का काम शशि करेगा। हम तीनों का काम अलग-अलग रहेगा। मैं स्टेपनी खोलूँगा, लालसिंह माल को छुपाएगा और शशि बेचेगा। ˈ

ˈठीक है यार, काम तो बाँटकर ही करना प ेगा। ˈ लाल और शशि थो ी देर सोचने के बाद एक साथ बोल प े।

ˈऔर सुनो ˈ बदन मिश्रा ने आगे कहना शुरू किया - ˈअगर कोई पक  में आ गया तो किसी भी कीमत पर वह दूसरे का नाम नहीं बताएगा। चाहे उसकी जान ही क्यों न चली जाये। ठीक? ˈ

ˈहाँ, ठीक ˈ

रास्ता चलते तीनों के बीच सारी बातें तय हुईं और वहीं से तीनों अलग-अलग दिशा में हो लिए।

स्क्रू-ड्राइवर और पाने की थैली बदन मिश्रा ने अपने पास रख ली।

दूसरे रोज़ कॉलोनी के अलग-अलग मोहल्ले के तीन-चार स्कूटरों की स्टेपनी गायब थी। दो-चार दिन तक लोगों के बीच कानाफूसी होती रही। लोग मोहल्ले के अवारा ल कों पर शक-सुबहा करते रहे। फिर भूल गए। बात आई-गई हो गई।

लाल, बदन और शशि की जेबों में महीने भर के लिए जेब-खर्च आ गए थे। उनकी तरफ न किसी की अँगुली उठी थी, न शक की नज़र गई थी। अब उन्हें न महीने भर कुछ करने की जरूरत थी, न किसी से कुछ माँगने की। पुलिया पर बैठकर न जुगा  भि ने की जरूरत थी, और न किसी ठीये पर जाने की। महीने भर के लिए उन्होंने अपनी दिनचर्या बदल ली थी। अब वो रोज समय से स्कूल जाते, समय से घर लौटते। हफ्ते में एक-दो बार टॉकीज की तरफ चले जाते।

तीनों अब एक साथ बहुत कम दिखते। कहीं घूमने-फिरने भी जाते तो अलग-अलग रास्ते से निकलते और नियत स्थान पर पहुँचकर जहाँ जाना होता वहाँ चले जाते। ऐसा वो इसलिए कर रहे थे कि मोहल्ले के लोगों और दूसरे गुट के ल कों को लगे कि अब तीनों अलग-अलग हैं। ताकि किसी को उन पर शक की गुंजाइश न रह जाये।

हुआ भी कुछ ऐसा ही। कॉलोनी के दूसरे गुट के ल कों को लगा कि तीनों में कुछ अनबन हो गई है। इसलिए अलग-अलग दिखते हैं। दूसरे गुट के ल के खुश थे कि अच्छा हुआ, जो ी टूट गई। अब आयेगा मज़ा। किसी से उलझ कर देखें अब। पर उन्हें क्या पता था कि कौवे की तरह तीनों चालाक और धूर्त हैं।

ˈक्यों लालसिंह, ऐसा क्या हो गया कि तीनों अलग-अलग दिखते हो? टोह लेने के लिए एक रोज दूसरे गुट के एक ल के ने पूछा तो लालसिंह हँसने लगा।

ˈयार तुम हँस रहे हो? क्या बात है? ˈ

ˈन हम लोगों में ल ाई हुई है, न अनबन। दसवीं बोर्ड की परीक्षा सिर पर है। तैयारी में लगे हुए हैं ˈ लालसिंह ने कहा और हँसते हुए आगे बढ़ गया। पूछने वाला ल का मुँह ताकने लगा।

महीने भर बाद चार-पाँच स्कूटरों की स्टेपनी फिर गायब हो गईं। इस बार कॉलोनी में खूब हल्ला-गुल्ला मचा। कुछ लोग मोहल्ले के अवारा टाइप ल कों की हरकत कह रहे थे, तो कुछ लोग आये दिन शहर में होने वाली चोरी और बदमाशी को मद्देनज़र रखते हुए अपनी आशंका व्यक्त कर रहे थे। कुछ लोग बार-बार स्टेपनी चोरी जाने की घटना को लेकर उत्तेजित हो गए और पास के थाने में रपट लिखा आये।

दो-तीन दिन पुलिस बिल्कुल मौन रही। जैसे कुछ हुआ ही न हो। चौथे दिन नौ-दस बजे रात को पुलिस की जीप दनदनाती हुई आई। चौराहे पर ख े और गपियाते हुए कई ल कों को उठा ले गई। थाने में उनकी खूब धुनाई हुई। और बापों की जेबें भी खाली हुईं।

लाल, बदन और शशि साफ बच गए। उन्हें मालूम था कि इस बार हंगामा ख ा होगा और लोग थाने तक जा पहुँचेंगे। वो सावधान हो गये थे। पहले जैसी उनकी दिनचर्या चलती रही थी। चौराहे पर ख े होकर गप्प मारने की बात तो दूर थी, उधर झाँककर देखा भी नहीं था। उन पर मोहल्ले की नज़र गई न पुलिस वालों की। गुटबाज ल कों की नज़र भी उन पर से फिसल गई। वो बच गये और शरीफ ल के फँस गए। स्कूल में इकट्ठे तीनों मिले तो पुलिस और कॉलोनी के लोगों की नादानी पर ठठाकर हँस प े।

पुलिस के दबाव और सख्ती का कॉलोनी में इतना असर हुआ कि फिर किसी के स्कूटर की स्टेपनी चोरी नहीं हुई। तीनों ने भी अपना रास्ता बदल लिया। स्क्रू-ड्राइवर और पाने की थैली एक नाले में डाल आए। इसके आगे उनके लिए खतरा था। अब तीनों दसवीं बोर्ड की परीक्षा में नकल मारने का आइडिया भि ा रहे थे।

इस बार भी बदन मिश्रा का आइडिया ही काम आया। और तीनों नकल मारकर पास भी हो गए। जबकि कॉलोनी और मोहल्ले के कई पढ़ाकू ल के लुढ़क गये। पर एक काम उनके हित में नहीं हुआ। कक्षा ग्यारहवीं और बारहवीं के लिए बदन और शशि ने अलग-अलग स्कूलों में दाखिला ले लिया। लालसिंह उसी स्कूल में रह गया। ऐसा गार्जियन के दबाव के कारण हुआ। पर इससे उनकी मित्रता और अंतरंगता में कोई फर्क नहीं प ा। स्कूल से लौटने के बाद तीनों एक निश्चित स्थान पर मिलते और जेब-खर्च के लिए आइडिया भि ाते।

एक रोज अपने ही क्लास के दादा टाइप के कुछ ल कों से बदन मिश्रा उलझ गया। अकेला होने के कारण पिट-पिटा गया। घर लौटा तो उसका मुँह लटका हुआ था। माँ-बाप ने पूछा तो कोई जवाब नहीं दिया। तीनों मिले तो उसका लटका मुँह देखकर लालसिंह पूछ बैठा, 'आज तेरा मुँह क्यों लटका हुआ है?'

'यार, एक स्कूल में थे तो आँख उठाकर देखने की भी किसी की हिम्मत नहीं होती थी। अलग-अलग होते हीं....'

'आखिर हुआ क्या? साफ-साफ बता। पहेली मत बुझा' लालसिंह ने जोर देकर कहा तो बदन मिश्रा फट प ा -

'क्लास में कुछ दादा टाइप के ल के आ गये हैं। कल उन्हीं से मार-पीट हो गई। सालों ने अकेला पाकर पीट दिया मुझे।'

'कल उनको पता चल जाएगा कि तुम अकेले नहीं हो। कल दस-ग्यारह बजे के करीब हम दोनो तुम्हारे स्कूल में आएँगे। उनकी पहचान करा देना। बेटा याद करेंगे कि कभी किसी से पाला प ा था। पर एक बात का ध्यान रखना, पक  जाने पर कोई किसी का नाम नहीं बताएगा' लालसिंह ने कहा और उसके बाजू फ क उठे।

दूसरे रोज़ तीनों ने सबसे पहले क्लास के काँच और बेन्च तो े। क्लास में दहशत फैल गई और क्लास के ल कों में भगद  मच गई। दुश्मन पर नज़र प ते ही भूखे शेर की तरह तीनों उन पर टूट प े। तीनों के हाथों में हॉकी-स्टिक थीं। आधे घंटे तक दोनों तरफ़ से हॉकियाँ और लात-घूसे चलते रहे। ल के और टीचर भौंचक होकर तमाशा देखते रहे, पर बीच-बचाव करने की हिम्मत किसी की नहीं हुई। प्रिंसिपल ने देखा कि मामला बहुत संगीन है। उसने टेलीफोन उठाया और पुलिस को तो -फो  और मार-पीट की सूचना दे दी।

दस मिनट के बाद दनदनाती हुई पुलिस की जीप आ पहुँची। पुलिस की जीप स्कूल-कम्पाउंड में पहुँचने के पहले ही लालसिंह कइयों को पीट-पाटकर बाउन्ड्री फाँदकर भाग निकला। जाते-जाते एक ल के की जाँघ भी चाकू से लहुलुहान कर गया। इसके पहले कि बदन मिश्रा और शशि गुप्ता भाग पाते, पुलिस ने उन्हें घेर लिया। दो-चार डंडे लगाने के बाद उन्हें जीप में डाल दिया। दूसरे ग्रुप के भी कई ल के उसी जीप में ठूँस दिए गए।

लालसिंह तो बच गया। पर बदन मिश्रा और शशि गुप्ता की थाने में खूब धुनाई हुई। पुलिस वाले डंडे लगाते जा रहे थे और पूछते जा रहे थे, 'बता साले, तुम्हारे साथ वह तीसरा कौन था जो चाकू मारकर भाग गया? उसका नाम-पता बता दो वरना तुम्हारी जान निकाल लेंगे। तुम्हें पता है न, हम पुलिस वाले कसाई होते हैं। गर्दन भी रेतते हैं और मिमियाने भी नहीं देते।'

पुलिस वालों ने मार-मारकर उनकी हुलिया बिगा  दी। पर, लालसिंह का नाम उनकी ज़ुबान पर नहीं आया। बार-बार वो यही कहते रहे, 'तीसरा कोई नही था। हम दो ही थे। पर हमने चाकू किसी को नहीं मारा। हमारे पास चाकू था ही नहीं।' उनके बापों ने पहले उन्हें थाने से छु ाने की कोशिश की। लेन-देन से भी जब बात नहीं बनी तो दूसरे-तीसरे रोज अदालत से जमानत करा ली। बदन और शशि पर महीनों फौजदारी का मुकदमा चलता रहा। लालसिंह विपक्ष के गवाहों को डराता-धमकाता रहा और गवाही देने से रोकता रहा। नतीजा साक्ष्य और गवाही के अभाव में एक साल के भीतर तो -फो  और चाकू मारने का

मुक़दमा ख़ारिज़ हो गया। टीचरों ने पहले ही इस मुकदमें से पल्ला झा  लिया था। उन्हें क्या ज़रूरत थी दूसरे की ओखली में अपना सिर डालने की।

तीनों अब अपने-अपने स्कूल की क्लास के दादा थे। स्कूल में होने वाले झग ों के फैसले भी वही करते और दंड भी वही लगाते। दंड के रूपए उनके जेब-खर्च के काम आते। जब देखते कि जेब-खर्च खत्म होने वाला है तो स्कूल के ल कों में दुश्मनी करा देते और दूर बैठकर तमाशा देखते रहते। अंत में झग` का फैसला तो उन्हें ही करना होता।

स्कूल से लौटते वक्त एक रोज तीनों रास्ते में मिले तो मंदिर के ढ़लान वाली पुलिया पर आकर बैठ गए और आइडिया भि ाने लगे।

ंयार, जीने में मजा नहीं आ रहा है। कोई ऐसा आइडिया बताओ कि मजा आ जाएं लालसिंह ने ऊबते हुए बदन मिश्रा से कहा।

ंमजा लेना है तो खाते-पीते घर की कोई ल की पसंद कर लो। फिर मजा ही मजा है ं बदन ने कहा और ठठाकर हँस प ा।

अब तीनों की नज़र स्कूल की ल कियों पर थी। और उन पर दूसरे गुट के ल कों की। दूसरे कई गुट के ल के एक-जुट हो गए थे। और उन पर नज़र रखे हुए थे। अब तक उन्हें यह भी पता चल गया था कि स्टेपनी चोर वही हैं।

दोस्तो, यह कहानी यहीं खत्म नहीं होती। तीनों आइडिया भि ा-भि कर ग्रेजुएशन कर गए और तीन तरफ़ चले गए। लालसिंह राजनीति में कूद प ा। बदन मिश्रा पुलिस इंस्पेक्टर की ट्रेनिंग में चला गया। शशि गुप्ता ने अपने बाप के रिटायरमेन्ट के पैसे से अपने छोटे से शहर में होटल खोल लिया।

एक लम्बे अंतराल के बाद तीनों राजधानी के शहर में मिले तो लालसिंह मंत्री था। बदन मिश्रा सीनियर इंस्पेक्टर और शशि गुप्ता एक ब` होटल का मालिक। तीनों ने आपस में कुछ खुसुर-पुसुर की। शहर और कॉलोनी की तरफ़ एक नज़र देखा। और फिर ठठाकर हँस प`।

***

## मैं नहीं पीता

**शांतिस्वरूप सूरी**

मयख़ाने में आया हूँ
मय नहीं पी
साक़ी से मिला हूँ
साग़र व मीना नहीं ली।
ज़ाहद से बग़लगीर हुआ हूँ
वाज़ ने तलकीन नहीं की
बुए शराब से लबरेज़ हूँ
तारीफ़े शराब ज़ाहद से सुनी।
अश्रफ़-उल मख़्लूक़ात हूँ
ख़ुदा की कुदरत देख ली

गुनाहगार न पाकबाज़ हूँ
मजबूरी की हद देख ली।
मश्रिक़ का सितारा हूँ
मग़्रिब की हूर देख ली
मस्त न बदमस्त हूँ
यहाँ जन्नत देख ली।
अज़ीज़ों में शरीक हूँ
ताबयादारी देख ली
भँग ा पा रहा हूँ
पीरी में जवानी देख ली।

## नाम भर को हूँ नदी

**सूर्यकांत नागर**

ंनाम भर को हूँ नदी ं
वर्ना कहीं से भी नहीं हूँ नदी
सच कहा है किसी ने
रखा क्या है नाम में
असल तो काम ही है
काम से होता है नाम।
विधवा की माँग-सी हो गई हूँ
भरी हैं गर्भ में शिलाएँ
उभर आए हैं रेत के ढ़ेर
फफोलों की तरह।
नहीं है अब जल की शीतल धारा
हवा पर सवार लहरें
जिनसे गीत होती थी नदी
और फूटता था संगीत
न नाचता है मन-मयूर
न आते हैं परदेश से पक्षी
भुतहा हो गया है वातावरण।
कभी सुहागन की तरह
भरी रहती थी लबालब
सोना उगलती थी खेतों में
और भर देती थी किसानों को
उमंगों से
अब तो बेटी देने को भी
तैयार नहीं है कोई
अपने इस गाँव में।
जो ती थी किनारों को
और कभी तो ती भी थी
दरिया-बरामद और
दरिया-शिकस्त देख
काँप जाता था दिल।
लेकिन हवा हो गए हैं स्वप्न
पता नहीं, कहाँ गुम हो गईं
इठलाती, बलखाती मत्स्य-कन्याएँ
नन्हीं भगनियों के तल में
उभर आए हैं अब
अनेक क्षत-चिन्ह
ंनदी-मुख ं का नहीं रहा
कोई मतलब
एकादशी क्या देखी उपवासी को !
अचरज से च्च,च्च् . करता है आदमी
भूलकर कि सब उसी का किया-धरा है
पे ों को चीर, धरा को सोख
कांक्रीट के जंगल उगा
उगा लिया है बीह जंगल
अपने अंदर
उसी ने किया है बज्रघात
झुठलाए हैं
नदी-नाव संयोग, दरिया-दिल
और घाट-जगाती जैसे मुहावरों को
सुस्त प े हैं
मल्लाह और मछुवारे
जाल समेटे
क्योंकि
ब े-ब े जालसाजों ने
बिछा दिये हैं
अनेक अदृश्य जंजाल।

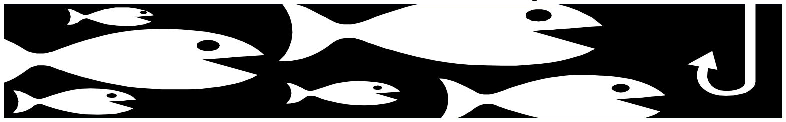

## अपरिमेय हर कोंण है . . . .

**जय चक्रवर्ती**

समय ले गया लूट कर, सपनों की टकसाल।
जिये, उम्र भर पेट के, हमने कठिन सवाल।।
मिले न ग्राहक दुखों के, खुशियाँ बिकीं उधार।
बस, यूँ ही चलता रहा, जीवन का व्यापार।।
जीवन सारा बन गया, एक चिरन्तन् प्यास।
मन के मरुथल में कहीं, छिपा रहा मधुमास।।
अपरिमेय हर कोंण है, हर रेखा अज्ञेय।
कभी न ंइति सिद्धम ं हुई, जीवन कठिन प्रमेय।।
आँख में, रचे महावर पाँव।
याद किसी की आ गई, मेरे दिल के गाँव।।
एक तुम्हारे रूप में, बसते चारों धाम।
तुम्हीं ंबनारस की सुबह ं, ंतुम्हीं अवध की शाम।।
मिली तुम्हारे प्यार की, जिस दिन से सौगात।
सोने जैसे दिन हुए, चाँदी जैसी रात।।
हमने नापी उम्र भर, शब्दों की ज़ागीर।
ंढ़ाई आखर ं लिख हुए, जग में अमर कबीर।।
निमिष, घ ी, घंटा, प्रहर, दिवस,महीना, साल।
रहूँ तुम्हारी याद से, प्रियतम मालामाल।। काजल आँजे
****

## जब आती है साली घर हमारे

**डा. शंकर पुणतांबेकर**

दुनियाँ में सबसे प्यारा और साथ ही ख़तरनाक रिश्ता है 'साली'। ख़तरनाक है पत्नी के कारण - उस पत्नी के कारण ख़तरनाक जिसके कारण साली हमारी साली बनती है। साली एक ऐसा अजीब रिश्ता है जो पत्नी के बिना बनता नहीं है और पत्नी के कारण प्यारा होकर भी अर्थहीन हो जाता है।

ब ी विचित्र बात है कि विवाह के पूर्व हमारा कौतुहल पत्नी के प्रति होता है और विवाह के बाद हमारा कौतुहल साली के प्रति। और यह ज़िन्दगी भर बना रहता है।

अकबर ने एक बार बीरबल से कहा, 'अच्छा होता हम अपनी साली से शादी करते।' इस पर बीरबल बोला, 'उस दशा में भी आप यह कहते कि अच्छा होता हम अपनी साली से शादी करते... अपनी वर्तमान पत्नी को देखकर, मेरा मतलब है बेगम साहिबा को देखकर।'

मेरे यहाँ आया था एक शोध-छात्र मेरा इंटरव्यू लेने। उसी को सुना रहा था मैं ये बातें। उसके शोध का विषय था - साली और उसका तलाक में योगदान - विषय मुझे एकदम मार्डन लगा। उसने मुझे साली संबंधी नया ज्ञान दिया - साली मूलतः दिवाली हो, लेकिन फलतः वह होली होती है यदि मर्यादा भाईदूज की न रह कर रंगपंचमी की बन जाती है।

साली संबंधी मेरी बातें सुन वह शोधछात्र बोला, 'भाईसाहब आप मूल बात पर आईए। यों ही इधर-उधर की बातें मत कीजिए। मूल बात है - जब आती है साली घर हमारे। साली जब आती है तब लगता होगा जैसे पूनो का चाँद ही प्रकट हो गया है, नहीं?'

'बिल्कुल ऐसा ही वातावरण बन जाता है भाई घर में। बच्चे जो उछलने-कूदने लगते हैं, खुशी के मारे अपनी मौसी को पाकर।'

'आप अपनी प्रतिक्रिया बताईए' वह बोला।

'चूँकि मैं बच्चा नहीं और साली मेरी मौसी नहीं होती, इसलिए मैं साली के आगमन पर उछलता-कूदता नहीं।'

'आपका मन उछलता-कूदता होगा।'

'जरूर उछलता-कूदता है भाई।'

मेरे इस विचार पर उसने सवाल किया, 'क्यों उछलता-कूदता है?'

इसके जवाब में मैंने कहा, 'इसलिए उछलता-कूदता है कि कोई भी मेहमान मेरे घर में आता है तो मेरे मन की ऐसी ही दशा होती है।'

'आपको ऐसा नहीं लगता भाईसाहब कि और मेहमानों की अपेक्षा साली कुछ और होती है, उसके प्रति विशेष आकर्षण होता है?'

'बिल्कुल लगता है भाई, बिल्कुल लगता है कि साली में विशेष आकर्षण होता है' मैंने कहा। 'कुछ लोगों को साली इतनी प्यारी लगती है कि वो अपनी पत्नी को ही कभी कह उठते हैं - साली।'

छात्र मेरी बात के व्यंग्य को पक  हँस प ा।

'मेरे एक मित्र थे' मैंने आगे कहा, 'होली पर उन्होंने ससुराल संदेश पहुँचाया कि साली को भेजो। पत्नी मन ही मन झल्लायी। फिर कुछ सोच पति से कहा, मैं खुद जाती हूँ मायके और तुम्हारी साली को भेजती हूँ। मित्र की खुशी का ठिकाना नहीं - घर पर पत्नी के न रहते साली के साथ होली खेलेंगे।

ऐसा ही हुआ। दोस्त साली के साथ, पहले ही जिसका मुँह खूब पुता हुआ था, मुक्त होकर होली खेला। और अंत में साली ने जब अपने मुँह का रंग धोया तो दोस्त ने देखा कि वह साली नहीं उसकी पत्नी ही थी।'

'केवल रंग से संभव नहीं कि...'

छात्र की बात पूरी होने के पहले ही मैंने कहा, 'सवाल रंग का ही है भाई। रंग उतर गया, पत्नी के मुँह का ही नहीं, पति की आँखों का भी तो पत्नी निरा पत्नी बनी रह जाती है।'

'आप मूल बात पर आइए। मूल बात है, जब आती है साली घर हमारे' छात्र ने मुझे फिर याद दिलाया।

'बिल्कुल, बिल्कुल मुझे मूल बात पर ही आना चाहिए' मैंने कहा। 'वास्तव में आपकी मूल बात तो यह है कि साली के कारण वो कौन-सी स्तिथियाँ पैदा होती हैं जिनके फलस्वरूप पति-पत्नी में तलाक होता है। ख़ैर जो भी मूल बात हो। मैं अपने एक रिश्तेदार का किस्सा सुनाता हूँ।'

'देखिए...' बीच में ही उसने टोका।

'अब यह रिश्तेदार अपनी साली को खूब चाहता था। इतना चाहता था कि उसके साथ नाचता-कूदता। कहीं बाहर जाता तो वह उसे अपने साथ ले जाता। शाम को पार्क में घंटों उसके साथ बिताता। मुझे यह चाहिए, मुझे वह चाहिए कहने पर वह उसकी फरमाइशें पूरी करता।

उसकी पत्नी ने यह सब देख एक दिन उससे कहा, 'मुझसे कहीं ज्यादा तुम अपनी साली से प्यार करते हो। रिश्तेदार बेध क हो कर बोला, 'इसमें क्या शक है, मैं अपनी साली से तुमसे ज्यादा प्यार करता हूँ।'

'इस पर पत्नी की क्या प्रतिक्रिया थी जानते हो? बोली, मुझे नाज़ है कि तुम मेरी बहन को दिलोजान से चाहते हो।'

'विश्वास नहीं होता' छात्र मेरी बात सुनकर बोला।

'पत्नी ने खुद साली के साथ फोटो खींचे हैं। विश्वास नहीं होता तो मैं आपको एलबम ही लाकर दिखाता हूँ।'

मैं उठा और अंदर से एलबम लाकर उसके सामने खोलकर रख दिया।

कुछ क्षण वह चित्रों की ओर हैरानी से देखता रहा और फिर सवाल किया, 'मर्द के साथ चित्रों में यह छोटी बच्ची कौन है?'

'बच्ची... अरे भाई, यही तो साली है इस व्यक्ति की।'

मेरी बात सुनकर उसकी ऐसी दशा कि समझ नहीं प  रहा था कि हँसे या रोयें।

'आप भी खूब हैं,' नार्मल आने पर वह बोला। पहले ही बता देते कि साली बच्ची थी तीन-चार वर्ष की। खैर, आप मूल बात पर आइए जिसके लिए मैं आपके पास आया हूँ - जब आती है साली घर हमारे।'

'जब आती है साली घर हमारे, तो कुछ मत पूछिए साहब... एक साहब थे...'

'देखिए, आप किसी साहब-वाहब की बात मत कीजिए। आप अपनी खुद की कीजिए।'

'सुनिए तो, यह साहब साली साहिबा पर इतने लट्टू कि उसे छो  ही नहीं। नित्य साथ लिए रहते और उसी में डूबे रहते।'

'साहब की पत्नी कुछ न कहतीं?' छात्र ने सवाल किया।

'एक दिन की बात, सालीसाहिबा का कहीं पता नहीं, साहब ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान हो गए। सभी से पूछा। पत्नी से भी कि सालीसाहिबा कहाँ है? सालीसाहिबा कहाँ है? लेकिन तब भी पता न चला।'

अब साहब की भूख-प्यास गायब। पत्नी भी हैरान।

'पत्नी को साहब का यह पागलपन कैसे बरदाश्त हुआ? और सालीसाहिबा सचमुच इतनी हसीन थी, आकर्षक?' छात्र बोला।

'पता नहीं भाई' मैंने कहा, 'मैंने तो पढ़ी ही नहीं यह किताब।'

'तो क्या सालीसाहिबा नाम की किताब थी, औरत नहीं?' छात्र कह उठा। फिर बोला, 'ठीक है, ठीक है, मुझे क्या लेना-देना है किताब हो या औरत। कृपया आप मूल बात पर आइए। जब साली आपके घर आती है तो आप कैसा महसूस करते हैं?'

'बस कुछ मत पूछिए। साली जब आती है तो लगता है मँहगाई भत्ते की फ़रक़ राशि मिल गयी हो। लगता है, राशन पर कोटे के अलावा शक्कर मिल गई हो, या मिल गयी हो अचानक कोई छुट्टी सरकार की ओर से।'

मेरी बात छात्र को शायद रास नहीं आ रही थी। उसका चेहरा गंभीर बना हुआ था।

'अब आपको क्या बताऊँ,' मैं आगे बोला, 'एक बार की बात है ससुराल में बची हुई एकमात्र साली पर उसके दो जीजा आपस में ल  प  कि साली होली पर मेरे यहाँ आएगी। साली पर मेरा हक़ ज्यादा है। दोनो इस बात पर राजी नहीं कि यह साली की मर्जी पर छो  दो कि वह किसके यहाँ जाए।

आखिर दोनो जीजा काज़ी के पास पहुँचे।

काज़ी ने उन दो औरतों वाला यह किस्सा सुन रखा था जो एक बच्चे पर दावा जताती ल  प ी थीं कि यह बच्चा मेरा है, यह बच्चा मेरा है और काज़ी ने फैसला सुनाया था कि बच्चे को काटकर दोनो औरतों में बाँट दो। सो इस काज़ी ने भी इसी तर्ज़ पर फैसला सुनाया कि साली को काटकर दोनों जीजाओं में बाँट दो।'

'यह कैसा काज़ी, ' छात्र बोल उठा। किस्से में सवाल खरी-खोटी माँ की पहचान का था। यहाँ वह सवाल नहीं। दोनो जीजा खरे हैं। सो इस काज़ी ने यह कैसा मूर्खतापूर्ण फैसला सुनाया। . . सुनाया हो, जैसा भी सुनाया हो, मुझे क्या लेने-देना। आप मूल बात पर आइए। आप अपनी साली के बारे में बताइए।'

'अपनी साली के बारे में बताऊँ कि मैं ब ा किस्मतवाला हूँ। मेरी साली का दूसरा कोई दावेदार नहीं है। अगर होता तो मैं झग ा उपस्थित होने पर किसी काज़ी के पास न जाता।'

'होता तो क्या करते आप?' छात्र ने सवाल किया।

'दावेदार होता तो मैं उससे कहता, साली किसके यहाँ जाएगी इस पर चित्त-पट कर लो। और इस चित्त-पट में साली मेरे ही यहाँ आती।'

'सो कैसे?'

'मेरे एक दोस्त ने जो चालाकी की वह मैं भी करता। दोस्त ने एक झग े में अपने प्रतिद्वन्द्वी से कहा था यदि सिक्का चित्त प ता है तो मैं जीता और पट प ता है तो तुम हारे।'

छात्र के बात एकदम दिमाग में नहीं आई। और जब आई तो हँस प ा। फिर बोला, 'आप अपनी बात पर आइए।'

'आता हूँ, आता हूँ। याद है कि मुझे मूल बात नहीं भूलनी चाहिए। साली जब आती है तो क्या बताऊँ। मुझे कहीं सुनी हुई ये पंक्तियाँ गंदी लगती हैं - आती है जा साली तो लगता है सारी दुनिया पा ली, ज़िन्दगी जिसके बग़ैर लगती है खाली खाली।'

'क्यों आपको ये पंक्तियाँ गंदी क्यों लगती हैं?' वह बोला।

'इसलिए कि इन पंक्तियों में स क-छाप बू है, पारिवारिक महक नहीं। मेरी साली जब आती है तो लगता है उमस के बाद पानी बरस प ा है, मैं उसमें नाच रहा हूँ, कूद रहा हूँ. . . मैं उसमें नाच रहा हूँ, कूद रहा हूँ. . . मैं उसमें. . .'

'आप आगे बढ़िए'

'मैं एक नये लोक में पहुँच जाता हूँ. . . कल्पना लोक में।'

'इस लोक में आप होते हैं और आपकी साली. . . बस।'

'नहीं, इस लोक में मेरी साली के साथ मेरी पत्नी, मरे बच्चे भी होते हैं। मेरे साथ मेरी पत्नी और बच्चे भी खुशी में नाच उठते हैं, कूद उठते हैं।'

'अच्छा, आप यह बताइए, आपने कभी अपनी साली को लव-लेटर लिखा है?'

'लिखा है भाई, ठाट से लिखा है। कई बार, और अपनी पत्नी को दिखाकर लिखा है।'

'ग़ज़ब है। आप कभी बीमार प े हैं और साली ने आपकी सेवा-टहल की है?'

'मैं बीमार प ता हूँ तो मेरी सेवा-टहल मेरी साली ही करती है। पत्नी उसे बुला लेती है।'

'क्या आप अपनी साली को पत्नी से बढ़कर मानते हैं? और यह बात आपकी पत्नी जानती हैं?'

'साली को मैं पत्नी से बढ़कर मानता हूँ, और यह बात मेरी पत्नी जानती हैं।'

'आपका साली के साथ यह व्यवहार आपके तलाक़ का कारण नहीं बन सकता?'

'नहीं, भाई नहीं। उल्टे ऐसे इत्तफ़ाक़ से हमें यह बचाता है।'

'ब ी अजीब साली है आपकी, ' छात्र ने कहा।

'अजीब भी और नहीं भी। वह माँ की उम्र की जो है। और माँ जैसा ही प्यार मुझे उससे मिला है।'

मेरी यह बात सुन छात्र जैसे पंक्चर हो गया। उसके अंदर की सारी हवा निकल गई और वह उठ गया। ııı

## भगवान बुद्ध के दो प्रमुख शिष्य

**डॉ. चतुर्भुज**

राजगृह में कोई मेला लगा था। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी मेला देखने निकले। दोनों एक-दूसरे से बिछ गये। सारिपुत्र ने एक अद्भुत व्यक्ति को देखा। वह एक तरुण भिक्षु था - आकर्षक चेहरा, नीची दृष्टि, हाथ में भिक्षा-पात्र। धीरे-धीरे चलता हुआ वह किसी घर के सामने ख ा हो जाता, भिक्षा उसके पात्र में डाल दी जाती। भिक्षा नहीं भी मिलती तो चेहरे पर कोई क्रोध या क्षोभ का भाव नहीं दिखाई प ता। वह निर्विकार रूप से आगे बढ़ जाता। सारिपुत्र को इसका स्वाभाव, इसकी गति, इसका हाव-भाव ब ा रुचिकर लगा। वह

इस भिक्षु से बात करना चाहता था। लेकिन रोककर बात करना अशिष्टता होगी। इसलिए वह पीछे-पीछे चलता गया।

एक स्थान पर रुक कर भिक्षु बैठ गया। पास के कुएँ के निकट जाकर हाथ धोया, फिर शांत भाव से, नीची दृष्टि करके, भोजन करने लगा। भोजनोपरांत हाथ धोया, भिक्षा-पात्र धोया,चीवर से हाथ-मुँह पोंछा, फिर छाया में बैठकर विश्राम करने लगा।

सारिपुत्र ने यही अच्छा अवसर देखा। पास जाकर उसने भिक्षु को प्रणाम किया। भिक्षु से आशीष मिलने पर सारिपुत्र ने पूछा, 'भन्ते, आपकी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं। आपका स्वरूप एवं वर्ण परिशुद्ध है। क्या आप अपना नाम बता कर मुझे अनुगृहीत करेंगे?'

भिक्षु पर प्रशंसा के शब्दों का कोई प्रभाव नहीं प ा। वह शांत निर्विकार बैठा रहा। उसने शांत भाव में उत्तर दिया, 'मेरा नाम अश्वजित है।'

'आपके शास्ता कौन हैं? आप किस धर्म में प्रव्रजित हैं?'

'मेरे शास्ता इच्छवाकु-कुलोत्पन्न महाश्रमण भगवान बुद्ध हैं। मैंने उन्हीं से प्रव्रज्या ली है। मैं उन्हीं का एक साधारण-सा शिष्य हूँ।'

'भन्ते, मेरी जिज्ञासा बढ़ रही है। क्या आप मुझे उनके सिद्धान्त के बारे में कुछ बताएँगे?'

'मैं इस धर्म में नवीन हूँ; विस्तार से नहीं बता सकता।'

'मैं विस्तार से अभी जानना भी नहीं चाहता। मुझे अति संक्षेप में ही बताने की कृपा करें।'

'भगवान ने कारणों से होने वाले सभी पदार्थों की व्याख्या की है। उन्होंने दुखनिरोध और निरोधमार्ग की भी व्याख्या की है। यदि विस्तार से आप जानना चाहें तो मेरे पूज्य शास्ता से भेंट करें।

'आपके शास्ता के दर्शन कहाँ होंगे भन्ते?'

'वेणुवन में।'

सारिपुत्र ने भिक्षु अश्वजित का चरण-स्पर्श किया और अपने अभिन्न मित्र मौद्‌गल्यायन को यह शुभ संवाद देने के लिए चला।

यह अश्वजित भिक्षु उन पंचवर्गीय भिक्षुओं मे एक था जिनको सारनाथ में तथागत ने प्रथम उपदेश दिया था और जो संघ के प्रथम इकसठ भिक्षुओं में एक था।

मौद्‌गल्यायन ने सारिपुत्र की प्रसन्न मुख-मुद्रा देख कर उसका स्वागत किया।

'मित्र, मैंने अमृत पा लिया है। तुम्हें देने के लिए आया हूँ।' सारिपुत्र ने कहा और भिक्षु अश्वजित से भेंट होने का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया। मौद्‌गल्यायन ने भी वेणुवन जाने का निश्चय किया। लेकिन जाने से पहले संजय बेलट्ठिपुत्र को बता देना आवश्यक समझा।

संजय बेलट्ठिपुत्र ने बहुत चेष्टा की, बहुत प्रलोभन दिया कि वे दोनों उसे छो कर न जायें। पर दोनों का निश्चय दृढ़ था। दोनों वेणुवन की ओर चले। संजय बेलट्ठिपुत्र के अन्य ढ़ाई-सौ शिष्य भी उसे छो गए। वह अकेला रह गया। संजय बेलट्ठिपुत्र के ही संघ में पहले सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन थे।

वेणुवन में तथागत भिक्षुओं को धर्मोपदेश दे रहे थे। चारों ओर शांति थी। कोई किसी से कुछ बोल नहीं रहा था। सबका ध्यान तथागत की ओर था। उसी समय दूर से आते सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन पर भगवान की दृष्टि प ी। उनके चेहरे पर प्रसन्नता दिखाई प ी। उन्होंने भिक्षुओं को संबोधित करते हुए कहा, 'भिक्षुओं, सामने से सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन आ रहे हैं। ये दोनों हमारे अग्रश्रावक होंगे। बौद्ध-संघ के शक्तिशाली स्तम्भ होंगे।'

'सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन ने आकर बुद्ध को प्रणाम किया। कहा, 'भन्ते, यह हम दोनों के जीवन का अत्यन्त शुभ दिवस है जब हम तथागत की शरण में आये हैं, धर्म की शरण में और संघ की शरण में आये हैं। हम युग-युग से भटक रहे थे। हमारा कल्याण हो।'

'तुम दोनों अग्रश्रावक-युगल होगे, भद्रयुगल होगे। तुम दोनों का धर्म में स्वागत है, संघ में स्वागत है।' बुद्ध ने कहा।

सारिपुत्र ने ही भिक्षु अश्वजित को, राजगृह में भिक्षाचार करते देखा था। उसी भिक्षु ने भगवान बुद्ध के बारे में सारिपुत्र को बताया था। उसी के कारण सारिपुत्र तथागत के दर्शन कर पाया था। भिक्षु अश्वजित के कारण ही सारिपुत्र की जीवन-दिशा बदली थी। सारिपुत्र इस बात को जीवन-भर नहीं भूल सका। उसने जीवन-भर अश्वजित को गुरुतुल्य माना। जिस दिशा में भिक्षु अश्वजित के रहने का पता मालूम होता, उस ओर मुख करके वह नित्य दिन उसे प्रणाम करता। रात्रि में उसी ओर मस्तक कर सोता था।

कदाचित् भिक्षु अश्वजित सारिपुत्र के इस धार्मिक कृत्य की ओर ध्यान देता भी नहीं होगा। अपनी ओर से उसने केवल औपचारिकता का निर्वाह किया था। कोई महान काम नहीं किया था - ऐसा वह मानता था।

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन नालन्दा के रहने वाले थे। दोनों में ब ी मित्रता थी। भगवान बुद्ध के ये दोनों अग्रशिष्य थे। सारिपुत्र को धर्म सेनापति कहा जाता था। बुद्ध उन पर इतना विश्वास करते थे कि कहते थे कि, 'जहाँ सारिपुत्र जाते हैं वहाँ मेरे जाने की आवश्यकता नहीं है।' सारिपुत्र की मृत्यु उसी कक्ष में हुई जहाँ उनका जन्म हुआ था।

मौद्गल्यायन ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी थे। विरोधी साम्प्रदायवालों ने उनकी हत्या कर दी। इन दोनों शिष्यों की मृत्यु बुद्ध के जीवन-काल में ही हुई थी।

इन दोनों के अस्थि-अवशेष लेकर नव नालन्दा के उद्धारक भिक्षु जगदीश कश्यप ने राजगृह नालन्दा के क्षेत्रों मे आज से लगभग पचास साल पूर्व परिक्रमा की थी। उस अवसर पर स्थानीय जनता के साथ-साथ देश-विदेश के सैक ों श्रद्धालुओं ने भारी उत्सव मनाया था।

***

## माँ

**डा. सुशील कुमार फुल्ल**

ठिठुरती ठण्ड में,
सुहावनी धूप।
तपती दोपहरी में,
शीतल सुहावनी छाया का,
प्रतीक है माँ।
माँ एक अहसास है,
नन्हें पाँव का,
पंख फैलाने का,
संतति दोष छिपाने का।
गु  गोबर
गोबर गणेश को
भीम बताने का।
घावों की मरहम
माँ
एक अहसास है
कवच का,
अभेद्य कच्छप का
तन कर तुनकने का।
माँ प्रतीक है
दिव्यात्मा का
काव्यात्मा-सी
उतरती अनुभूति का।

## अपने हिस्से का सच

**सुधा गोयल**

मैनें उनसे कभी नहीं पूछा कि तुम मुझे प्यार करते हो? पूछने से भी क्या फायदा? प्यार क्या पूछने की वस्तु है? प्यार की भावना तो शरीर के रोम-रोम से टपकती है - बिल्कुल सावन की हल्की मदमाती फुहारों की तरह। जब मैं सोचती हूँ तो मुझे ताज्जुब होता है कि बिना प्यार के, महज़ सामाजिक-पारिवारिक अनुबंध के अनुराग के साथ रहते हुए पूरे ढ़ाई दशक निकाल दिए। आखिर क्या अर्थ रहा इस रिश्ते का? महज़ शादी के दो अक्षरों में सिमटी ज़िन्दगी कितनी अनजान बनी रही। क्या इस अज़नबियत को ढ़ोते रहना इतना आसान है? पाने और देने के हिसाब में कहीं भी तो अपनापन नहीं आया। क्या जरूरत थी इस प्रकार ढ़ोने की? आज जब यह सब सोचती हूँ तो ब ा अजीब लगता है। आदमी पास रहते भी इतना अज़नबी क्यों बन

जाता है? जिसका कोई परिचय नहीं; अतीत, वर्त्तमान और भविष्य नहीं। महज़ अपने में सिमटा, अपने में जीता, रिश्तों के गट्ठर को ढ़ोता कैसा हो जाता है।

पल-भर को अनुराग का चेहरा मेरी आँखों में कौंध जाता है। जिस निरीह भाव से ग्रस्त मैं अनुराग के चेहरे की कल्पना करती हूँ, वहाँ ऐसा कुछ नहीं है। हमेशा की तरह वही सपाट, भावहीन चेहरा जिसे देखते-देखते ऊब होने लगी है। वैसे भी मेरे हिस्से में उनका चेहरा कम, पीठ अधिक आई है। अपने हिस्से की पीठ देखते-देखते कई बार स्वयं को बोला है, 'कहीं उनके हिस्से में मेरी पीठ. . ' तभी मैंने अपनी सोचों को झटक दिया है। कितनी घटिया सोच है। मैं अपना आकलन करने से स्वयं को बचाती रही हूँ। आदमी अपने सच को इतनी आसानी से स्वीकार कहाँ करता है? फिर भी यूँ बच-बचकर ज़िन्दगी का सफ़र कैसे पूरा करूँगी?

उस दिन दफ्तर से लौटे थे अनुराग। मेधा की शादी का निमंत्रण-पत्र सामने मेज़ पर प ा था। टाई की गाँठ ढ़ीली करते-करते पढ़कर अपनी जगह रख दिया। गर्दन को झटका देकर टाई निकाली। बुदबुदाए - 'विवाह और प्यार दो अलग बातें हैं। लोग समझ ही नहीं पाते। जब समझते हैं तब देर हो चुकी होती है।'

और, मैं उनका मुँह देखती ही रह गई। यह बात किसे लक्ष्य करके कही गई है? सामने तो मैं ही ख ी हूँ। शायद अपने बारे में कुछ कहा हो। गर्दन को झटका देकर टाई के घेरे से तो मुक्ति पाई लेकिन टाई और बीबी में ब ा फ़र्क है। मुझे लगा यह वाक्य और यह झटका मेरे लिए ही था। हैंगर पर कप े टाँगते समय हाथों में थरथराहट उभरी थी।

मर्द कितनी आसानी से सच उगल देते हैं। अगर यही बात मैं कहूँ तो शायद औरत की ढ़ीठता की पराकाष्ठा होगी। विवाह और घर दोनों सभी के हिस्से में आएँ - यह जरूरी तो नहीं। किसी को प्यार मिलता है, किसी को विवाह और किसी को कुछ भी नहीं।

'विवाह ' के इन तीन अक्षरों से ही मुझे चिढ़ है। जब तक इसका अर्थ नहीं जानती थी मैं भी सतरंगे इन्द्रधनुष बनाया करती थी। रंग भरा करती थी। अब सोचती हूँ तो अपनी उस बचकानी हरकत पर हँसी आती है। क्योंकि विवाह तन के धरातल पर मन का बलात्कार है। व्यापार है एक जिसकी तुला मर्द-रूपी व्यापारी के हाथ में रहती है। पल े भी उसकी मर्जी से ऊपर-नीचे होते हैं। वह जिस पल े में बैठेगा निश्चित ही भारी होगा। मर्द के बारे में कितनी सारी निश्चिन्तताएँ हैं और औरत के बारे में कोई निश्चिन्तता नहीं। वह स्वयं पूरी ज़िन्दगी निश्चय-अनिश्चय के बीच झूलती खर्च होती रहती है।

घर और व्यापार की परिभाषाओं से दूर एक अनाम सहज-सा रिश्ता, और मेरे सामने उभर आती है एक मुस्कुराती आकृति जो दूर होते हुए भी कहीं बहुत अपनी लगती है। जिसने अपने लिए कभी कुछ नहीं चाहा। वह केवल देता रहा, अपनी सामर्थ्य भर। उसकी हर मुश्किल को आसान करता रहा। ल ख ाने पर सँभाल लेता, रात-रातभर जागकर उसके लिए नोट्स तैयार करता, अपने नाम से लाइब्रेरी से किताबें निकलवा कर उसे देता, उसका हौसला बढ़ाता, उसकी हर चीज़ की तारीफ करता और जब वह बहकने लगती बरज देता। वह केवल मुझे फूल समझकर दूर से सूँघता, कोमलता का एहसास करता और मैं झूम-झूमकर उसके बटनहोल में कैद होने को मचल प ती लेकिन शाख से जुदा करने को उसके हाथ कभी आगे नहीं बढ़े।

मैं खीजती तो समझाता -

'पुष्प सूँघने के लिए होता है। सौन्दर्य महसूस करने के लिए होता है - मसल देने के लिए नहीं।'

'अजित, तुम्हारी ये दार्शनिकों जैसी बातें समझ नहीं आतीं।'

'आएँगीं, सब समझ में आएँगी, लेकिन थो े समय बाद।'

'कब अजित?' मैं उतावली हो उठती।

'वक्त का इंतजार करना सीखो शुभा। इतनी आतुरता उचित नहीं।' वह किसी बुज़ुर्ग-सा आहिस्ते से कंधे थपथपाता मुस्कुराता अपनी राह चल देता।

मेरी आँखें डब-डबा आतीं। मुझे लगता अजित मेरे नारीत्व का अपमान कर रहा है। कायर है वह। 'दुष्ट कहीं का ' मैं मन ही मन उसे गाली देती और फिर न बोलने का संकल्प लेती; लेकिन अगले दिन वह फिर मुस्कुराता कोई किताब हाथ में लिए कॉलेज के गेट पर इंतजार करता मिलता।

मैं नज़र बचाकर निकलने की कोशिश करती, रूठने का बहाना करती तो ठीक सामने आकर ख ा हो जाता। अपने हाथ से मेरा चेहरा ऊपर करके कहता, ' क्या घर में किसी से झग ा हुआ है? ' मन होता अपना सिर पीट लूँ। क्या बुद्धू इतना भी नहीं समझता। मेरी आँखें उम  प ने को हो आतीं।

'आओ चलो, सामने पार्क में बैठते हैं। वहाँ बताना।'

और, मैं उसके बढ़े हाथ को झटक तेज-तेज कदमों से अपनी कक्षा की ओर मु  जाती। पीछे मु कर भी न देखती। कक्षा में मन न लगता। अध्यापक क्या पढ़ा रहे हैं - कुछ पता नहीं। मन शांत होता तो स्वयं पर गुस्सा आता। भला उस बेचारे पर गुस्सा क्यों किया? उसे तो मुझ पर कभी गुस्सा आया ही नहीं। वह कभी रूठता ही नहीं। फिर एकदम मन होता दौ कर उसके पास पहुँच जाऊँ। उसे अपनी बाहों में कैद कर लूँ। उसके मुँह पर इतने चुम्बन ज  दूँ कि...लेकिन वह तो मेरी पक  से हमेशा दूर रहा है।

पीरिय  छूटता तो वह उसी प्रकार मुस्कुराता मिलता।

मैंने एक दिन उसे अपना रिश्ता पक्का होने की सूचना दी। यह सोचते हुए कि उसका चेहरा उतर जाएगा। वह मुझे आगोश में भर कर कहेगा - 'शुभा ! तुम केवल मेरी हो, किसी और की नहीं हो सकती।' लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। मैं हैरत से उसका चेहरा देखती रह गई।

'बधाई हो शुभा। मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ। अपनी शादी पर बुलाना न भूलना। तुम्हारे लाइफ-पार्टनर के दर्शन मैं भी कर लूँगा।' कहते हुए क्षणभर को हल्की-सी उत्तेजना लगी कि फिर सब सामान्य हो गया।

'इतनी ब ी खबर सुनकर तुम्हें कुछ नहीं हुआ अजित ! तुम कैसे पुरुष हो?' मैं दोनो हथेलियों में मुँह छिपाकर सुबक उठी।

पहली बार उसने मेरे दोनो हाथ पक े। अपनी अँगुलियों से आँसू पोंछे - 'क्या हर रिश्ते का कोई नाम ही हो, यह जरूरी है शुभा? तुम जरा अपने हाथ की इन रेखाओं को देखो, सभी में तो मेरा नाम लिखा है, और ये देखो मेरा हाथ, शुभा के अलावा यहाँ कुछ भी तो नहीं। देह पाना ब ी बात नहीं शुभा ! ब ी बात है मन का पा लेना। बस, और क्या चाहिए?'

सच कह रहा था अजित, अपने हिस्से का सच, मेरे हिस्से का सच, एक ऐसा सच जो हमेशा मेरी हथेली की रेखाओं के बीच कभी भी उभर कर मुझे जीने की प्रेरणा देता।

मैं अनुराग में इसी आकृति को विलीन कर देना चाहती हूँ। लेकिन मेरे चाहने भर से क्या होता है। अनुराग अपने अंदर कुछ भी लय हो जाना नहीं चाहते। उन्हें बाहर और भीतर दोनों तरफ से समझना मुश्किल है। एक अभेद्य-सा कवच हर वक्त धारण किए रहते हैं जहाँ मेरी दृष्टि नहीं पहुँच पाती।

इस कवच को बहुत बार भेदने की कोशिश में स्वयं किर्च-किर्च होकर लहुलुहान हुई हूँ - लेकिन फिर महज एक स्मृति के अमृत-कुंड में डूबकर सहज हो गई हूँ। कुछ पल का प्यार क्षीणशिखा है - शायद यही सच है।

हाँ, सिर्फ़ एक बार जाने कैसे अजित आ गया था। खुशी से अधिक उसे देखकर आश्चर्य हुआ था। कुछ पल दरवाजे पर ही ठिठक कर निकल गए -

'क्या अंदर नहीं आ सकता शुभा?' अजित के पूछने पर ही चैतन्य हुआ और दरवाज़े से एक तरफ़ हटकर राह बनाते हुए कहा - 'हाँ, हाँ, क्यों नहीं, आओ अंदर आओ।' मन में कहीं शंका ने सिर उठाया, क्या कहेंगे अनुराग? नारी और पुरुष के रिश्तों का केवल एक ही अर्थ पति की निगाह में होता है। लेकिन पहली बार आए अजित को जाने के लिए भी तो नहीं कह सकती -

'किस सोच में प  गई शुभा?'

'आज तुमने यह राह कैसे पक  ली। पूरे पन्द्रह साल बाद क्या रिश्ते को कोई नाम न दे पाने के पश्चात्ताप में कदम बहक गए?'

'शुभा, तुम अभी भी नहीं बदलीं। मुझे अपने निर्णय पर न तब पश्चात्ताप हुआ और न अब है। पता नहीं क्यों कदम मुझे तुम्हारे द्वार तक ले आए। कैसी हो तुम?'

अभी उत्तर दे पाती कि अनुराग आ गए। जिसका डर था वही हुआ। परिचय के लिए किसी रिश्ते के नाम का होना आवश्यक है। क्या कहूँ? 'ये मेरे पति अनुराग और अनुराग, ये अजित' कहते-कहते जुबान ल ख ाई थी - अजित से क्या रिश्ता है, क्यों आया है, क्या बताऊँ?

तभी अजित ने हाथ जो ते हुए कहा - 'जी, मैं अजित विश्वास, आपके मायके से संदेश लाया था।'

अजित ने कितनी जल्दी से कवच ओढ़ लिया। पुरुष कोई भी हो, वह हमेशा अपने लिए एक कवच तैयार रखता है।

अनुराग खिल-खिलाकर हँस प े। अजित से हाथ मिलाते बोले - 'मैं अनुराग - केवल अनुराग भी हूँ। संदेश दे चुके क्या?'

हाँ। चलने को उद्यत हुआ अजित। बैठिए, इत्मीनान से अजित साहब। इतनी जल्दी भी क्या है? और अनुराग अंदर जाकर कप  बदलने लगे। अजित की ब ी अजीब स्थिति हो रही थी - न रुकते बन रहा था न जाते। ठंडे और सहमें-सहमें इस स्वागत में मैं कहीं ज  हो आई। फिर भी अजित को बैठने का इशारा कर स्वयं किचन में नाश्ता तैयार करने चली गई। अजित और उसकी स्मृतियाँ फर्श पर गिरकर कितनी बेरहमी से चकनाचूर हुई हैं। किर्चों को सहलाया भी तो नहीं जाता।

फिर जैसे मन में कुछ ग  गया - केवल अनुराग। क्या मायने हैं इसके? क्या जरूरत थी केवल अनुराग कहने की? क्या कहना चाहते हैं अनुराग? क्या अनुराग दूसरों के सामने भी अपना वजूद अलग करके दिखाना चाहते हैं? क्या अब तक केवल अपने अनुराग के साथ जिए हैं? पति का पति होना या पति कहकर परिचय कराना क्या अनुराग के स्व को उनसे अलग कर देना है? क्या अब तक अनुराग मात्र अनुराग बनकर जीते रहे और मैं खाली हाथ, खाली वजूद, पत्नी का चोंगा पहने उसके पीछे घिसटती रही - अनाम-सी, बेजान-सी। होंठ थरथरा उठें इससे पहले पानी का गिलास मुँह से लगा लेती हूँ। अपनों द्वारा अपनों के सामने इस प्रकार निर्वसन होना - मेरे लिए कितना कष्टकर हो उठा था। चाय पीते समय दोनों के मध्य अपना वजूद एक गेंद जैसा लगा जो कोनें में लुढ़की प ी हो। अजित के मन की दशा क्या समझ पाती, स्वयं ही अपनी दशा पर आश्चर्यचकित थी।

कब अजित गया, कब अभिवादन में असहज-से दोनों हाथ उठे, आँखों में कितने प्रश्न कौंधे, कितना दर्द उभरा, किसी का कुछ भी तो हिसाब नहीं। निढ़ाल-सी मैं जूठे बर्तन उठा अंदर ले गई। मन ही मन सोचती हुई कि अनुराग अजित के बारे में पूछेंगे -

ये साले साहब कौन हैं? पहले तो कभी दिखाई नहीं दिए? या क्या संदेश है मायके का? कहीं कुछ भी नहीं। फिर वही मौन, एक अभेद्य दुर्ग और दुर्ग के इस पार अकेली-एकाकी मैं....

# लालच और नाक

**स्नेह ठाकुर**

लालच और नाक का भूत अगर आप पर सवार हो जाए तो समझिए आपकी खैर नहीं, खुदा ही आपको बचाए।

अकेले लालच के चक्रव्यूह से यदा-कदा कोई अर्जुन ही निकल पाएगा, पर यदि लालच और नाक के सम्मिश्रण से चक्रव्यूह का निर्माण किया गया हो तो श्रीकृष्ण ही उबारें तो उबारें।

और तो और नाक न कटाने के चक्कर में रुपया-पैसा तो क्या, सर भी कटाया जा सकता है। ऐसी महत्ता है नाक की।

बस साहब, मैं भी इन दोनों के चक्कर में फँस गई थी। उसी के नतीजे पर सिर धुन रही हूँ, और अब जब धुनते-धुनते थक गई हूँ तो दोनों हाथों से सिर थामें सामने प  मेस्  को, अव्यवस्थित चीज़ों के ढ़ेर को, टकटकी बाँध ताक रही हूँ।

समुद्र की बालू की तरह, जब सिर हाथों के खम्भों से खिसकने लगा तो गालों के दोनो ओर इन खम्भों की हथेलियों को चिपका, चेहरे की इमारत को बरक़रार रखने का प्रयत्न किया; पर आँखें, जिस तरह गिद्ध अपने शिकार को देखता है, सामने प  मेस्  को देखती रहीं।

शांत समुद्र जैसे, लद्द प  शरीर में, विचारों ने छोटे-ब  ढ़ेले मारकर, मस्तिष्क को गतिमान किया और मैं दोनों गालों पर हाथ रक्खे, सामने प  ढ़ेर सारे रंग-विरंगे रैपिंग-पेपर को दार्शनिक भाव से निहारने लगी। कई गिफ्टों, उपहारों से तो उनके रैपिंग-पेपर ही ज़्यादा अच्छे थे। बस यह समझिए, नाम ब  और दर्शन छोटे, खोदा पहा  निकली चुहिया, अब बताईये, किसको न बुरा लगेगा?

क्या-क्या न उम्मीदें लगा रखी थीं। सोचा था, मुन्ने की पहली वर्षगाँठ है, चलो थो ी मेहनत ज़रूर हो जायेगी, पर मुन्ने के ढ़ेर सारे खिलौने तो आ जाएँगे। क्या-क्या सपने नहीं देखे थे, पर सब धरे के धरे रह गये।

अरे अभी कुछ ही महीने तो हुए जब कटारिया साहब के नाक बहाते, रिरियाते ल के को हम ब ा-सा फिशर-प्राइज़ का ट्रैक्टर देकर आए थे।

और हाँ, सुनीता की कंचन को, नाम उन्होंने कंचन रखा है और है वो पूरी कल्लो; ख़ैर छो ि ए, यह उनका मामला है। वैसे उन्होंने ब े ल के का नाम भी रखा है 'ज्ञानप्रकाश' और हैं वो पढ़ने में शून्य। शायद उन पर अभी तक ज्ञान का प्रकाश नहीं प ा। और कहीं उनके ज्ञान का प्रकाश किसी और पर प गया तो वो बेचारा तो गया काम से। और तीसरे हैं, 'कमलनयन',अब कमल से क्या तुलना करें। हाँ छोटी-छोटी बटन जैसी आँखें कमलकक ी के छेदों से जरूर समानता रखती हैं।

ख़ैर हमें क्या लेना-देना। वो जाने और उनका काम जाने। और इसमें बच्चों का भी क्या दोष? हाँ, बात हो रही थी कंचन को दिए उपहार की। क्या ज़ोरदार गु िया हम उसे देकर आए थे, जो न केवल आँखें मटकाती है, बोलती है, बल्कि अपने को गीला भी कर लेती है। भगवान करे, जब सुनीता पक े तभी वो गीला करे।

एक ज़माना वो था जब आप किसी को दस रुपये शगुन दें तो वो पलटकर आपके किसी शुभ अवसर पर इक्कीस नहीं तो कम से कम ग्यारह तो देगा ही देगा। नाक का सवाल जो है। खासकर छोटी नाक वालों को विशेष ध्यान देना प ता है। आख़िर कितनी बार नाक कटवा सकते है? लम्बी हो तो शायद दो-चार बार रिस्क ले भी लें, पर छोटी का क्या करें? एक-आध बार में ही सूर्पणखा की नाक की तरह सफाया हो गई तो? और फिर कितनों के पास रावण की तरह हट्टे-कट्टे भाई होंगे जिनके पास रोती-पीटती चली जाईएगा? और अगर कुछ हों भी तो आजकल कितने भाइयों को फुरसत प ी है कि जो बदला लेने धमक जाएँ? पहले की तरह कोई राजा-महाराजा तो हैं नहीं कि खाली बैठे हैं आराम से, यहाँ अपने ही कामों से फुरसत नहीं। और फिर अगर चले भी जाएँ तो वो ही कौन-सा तीर मार आएँगे? रावण ने भी बदला लेकर क्या कर लिया? अपना खानदान ही ख़त्म करवा लिया। सोने की लंका भस्म करवा ली। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी नाक ही सँभाल कर रक्खी जाये। इसीलिए भारतीय संस्कृति में यही शिक्षा दी जाती है कि भइया जो भी कोई कुछ दे उसमें एक रुपया और जो कर वापिस करो।

हम सोच रहे थे कि हम टोराण्टो में बैठे हैं तो क्या हुआ? हम कनेडियन थो े ही हो जाएँगे, रहेंगे तो हम भारतीय ही। पर भूल गये थे कि अब कलियुग आ गया है। बहुत-सी बातों की तरह लोगों को अपनी नाक की भी फिकर नहीं रह गई है।

कलियुग की बात पर ध्यान आया कि उठ कर सफाई की जाए। अब पहले जैसे कर्मठ, ईमानदार, सेवक-नौकर कहाँ रह गये हैं। भारत में तो अभी भी कुछ मिल जाते हैं, पर हमने जरूर कोई पाप किए होंगे। भगवान ने कैनेडा भेज दिया, कहा, 'बस, अब कोई तुम्हारी सेवा नहीं करेगा। तुम्हीं रामप्यारी, धोबिन, मोचिन, यहाँ तक कि मेहतरानी से रानी तक हो; बस भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न रूप धारण कर अपना काम निपटाओ।'

फिर भी उम्मीद पर दुनियाँ जीती है। आशापूर्वक पतिदेवता को निहारा, शायद कुछ सहायता मिल जाये। उन्होंने नज़रों में नज़रें डालीं और फिर पैर पसार कर अख़बार फैला लिया। हाँ, छोटे-से भाषण देने की कृपा जरूर कर दी, 'मैंने तो पहले ही कहा था कि यह सब बखे ा न करो। पर तुम्हें तो उपहारों का लालच आ गया था, तुम मानी नहीं। अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।' और ऐसी तन्मयता से अखबार पढ़ने लगे जैसे सृष्टि का सारा अस्तित्व ही इनके एक-एक शब्द को आत्मसात करने पर निर्भर है।

गुस्से में कुछ कहना चाहा, फिर संयम रख लिया। आख़िर हूँ तो भारतीय नारी, जवाब कैसे दे सकती हूँ? हाँ, यह बात अलग है कि आँगन में झाड़ू लगाती, दो हाथ का घूँघट काढ़े बहू की तरह, टकर-टकर करने वाली सास पर, दो-चार बार बहाने से झाड़ू फेर दूँ। पर यहाँ तो पति का सवाल है। वैसे तो और बहुत सारे नुस्खे आजमाए जा सकते हैं। पर उनकी बात भी गलत नहीं है? सचमुच लालच आ गया था। पर जब वो आ ही गया, चाहे वह लालच ही क्यों न हो, कैसे किसी मुफ़्त में आई चीज़ को निकाल कर बाहर फेंकूँ? चाहे उसके रखने से नुकसान ही क्यों न हो?

चलिए, यहाँ अपनी गल्ती मान लेते हैं। पर इन्होंने भी तो कम नहीं किया। अब बिना बात के मेरा काम न बढ़वाते तो क्या हो जाता? बहुत कहा कि बाजार से हिन्दुस्तानी दुकान से बने-बनाए नान-कुलचा ले

आएँगे। बस रोटी का झंझट ख़त्म। पर नहीं, कहने लगे, 'मेरे लिए दो रोटी बना देना, बाकी सबको चाहे नान-कुलचा दे दो।' अब बताईये, ऐसा भी कहीं होता है? नाक नहीं कट जायेगी? कहाँ रजनी, प्रिया और इन्द्राणी हैं, सारे दिन अपने मियाँओं से उठक-बैठक कराती रहती हैं; और एक हम हैं कि अच्छी-भली इतनी मँहगी नान खिला रहे हैं, और हमारे मियाँ उसमें भी नख़रे छाँट रहे हैं। अरे अच्छी चीज़ दे रही हूँ, बुरा थो`ड़े ही कर रही हूँ?

सच बात तो ये मानेंगे नहीं, असल में यहाँ भी नाक का ही सवाल पैदा हो गया है। हालाँकि इनकी नाक काफी लम्बी है फिर भी नाक बढ़ाने के चक्कर में हैं। यह ठसका, यह रुतबा क्या कम है कि मेरे घर में मैं जो कहता हूँ वही होता है, चाहे इसमें बीबी की नाक कट जाए। तो ऐसा कैसे होने देती? भुन-भुनाकर पूरियाँ तलीं। हर पूरी को मेहमानों का नाम ले-लेकर गरम तेल में ऐसे डाला जैसे उनकी गर्दन पकड़ आँच दिखाई कि लो बेटा मज़ा। लोगों को दूसरे दिन जरूर पेट-दर्द हुआ होगा, पर इसमें मेरी क्या गल्ती? मेरे मियाँ भी दूसरों के मियाँ की तरह होते तो मैं ऐसा क्यों करती?

भगवान भला करे उसका जिसने पूरी बेलने की मशीन बनाई। धड़ाधड़ आटे की गोलियों को चपटाकर पूरियाँ भी फटाफट बिल गईं और फ्रस्ट्रेशन भी निकल गया। हाँ, यह बात अलग है कि ज़ोर-ज़ोर से हैंडल दबाते-दबाते कंधे जरूर उखड़ गये।

दूसरी बात पर भी पतिदेव अड़ गये। बहुत कहा कि बैठने और खाने-पीने का सारा प्रोग्राम नीचे 'बेसमेण्ट' भूमिगत-तलगृह में कर लेंगे। पर नहीं यहाँ भी अकड़ गए कि मैं तो ऊपर ही 'लिविंग-रूम' में, बैठक में ही बैठूगा। तुम्हें अपने मेहमानों को तहखाने में ले जाना हो तो ले जाओ, मैं तो कब्रिस्तान में जाता नहीं। बताइए, लोग हजारों डालर खर्च करके 'फिनिश-बेसमेण्ट', सजी-सजाई सम्पूर्ण भू-तल-गृह बनवाते हैं और मेहमानों को अच्छा-भला शानदार घर होने के बावज़ूद बेसमेण्ट में ऐसे ले जाते हैं जैसे ताजमहल ले जा रहे हों, और हमारे मियाँ उसे कब्रिस्तान कहते हैं। और ऊपर से यह दलील कि चाहे कुछ कहो, मैं ताजमहल अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे सब तरफ घंटों घूम सकता हूँ पर भाई तहखाने में दो-चार मिनट से ज्यादा नहीं रुकूँगा। है तो वह मुमताज की कब्र ही चाहे कितनी ही खूबसूरत क्यों न हो।' - सो इस बात पर भी हार माननी पड़ी क्योंकि ये तो अपनी नाक कम न करते, कह दिया तो कह दिया। ये तो टस-से-मस न होने वाले थे। अतः मुझे ही अपनी नाक की फिकर करनी थी। मेरी नाक तो वैसे ही छोटी-सी है। कैसे कटा दूँ?

मेहमानों को बत्तीसी दिखाते हुए स्वागत कर बैठक-घर में बैठाया। सोचा अपने घर की तरह ये लोग मेरे घर का भी ध्यान रखेंगे। पर हाय री किस्मत, लोगों ने इसे अपना घर न समझा। जो लोग अपने घर में लिविंग-रूम, बैठक को म्यूज़ियम की तरह सजाकर रखते हैं, उसका इस्तेमाल तो दूर रहा, बस मक़बरे की तरह एक-आध बार झाड़ने-पोंछने ही वहाँ जाते हैं जिससे कोई चीज़ इस्तेमाल में आने से खराब न हो जाए - वो ही लोग खुद तो खुद, अपने बच्चों को भी खुली छूट दिए हुए थे कि बेटा ऐसा मौका फिर नहीं आने का। धमा-चौकड़ी कर सारे अरमान निकाल लो। बस साहब, क्या करते? खून के घूँट पीकर रह गए। जब ओखली में सिर दिया है तो घुटाना ही पड़ेगा।

मन ही मन कसमसाए जा रही थी कि मिस्टर-मिसेज़ अकबर की याद आ गई। डेढ़ साल पहले की ही तो बात है। हमारी बहन आईं हुईं थीं अतः अकबर दम्पत्ति ने हमें खाने पर बुलाया। लिविंग-रूम में तो जाने का सवाल ही नहीं पैदा होता क्योंकि हम तो आम हिन्दुस्तानी भाई हैं। ना ही हम कोई गोरी चमड़ी कनेडियन हैं और ना ही कोई भारी-भरकम विशेष हस्ती। बेसमेण्ट भू-तल-गृह पूरा बना नहीं था, अतः फैमिली-रूम में बैठाया गया।

अलबत्ता यदि आप किसी कनेडियन के घर जाते तो वो जरूर आपको कायदे से व बड़े प्यार से अपने लिविंग-रूम, बैठक में ही बैठाते। पर हिन्दुस्तानी कायदा फ़र्क है साहब। उनका अपना ही लॉजिक है। बड़ी मुश्किल से तो वर्मा-शर्मा, तिवारी-त्रिवेदी और बाकी लोगों को मात देकर अपनी औकात से बाहर महँगी-महँगी चीज़ें खरीदीं, अब कैसे उन्हें ऐरे-गैरे नत्थूखैरों से खराब करवाया जाए। अरे ! जिन्होंने उन चीज़ों को खरीदा जब वो ही नहीं उन्हें छू सकते तो आप कौन-से खेत की मूली हैं?

अकबर साहब को बच्चों का फैमिली-रूम में भी बैठना गवारा नहीं हुआ, पर बुलाया था तो अब क्या करते? शायद बुलाते समय बच्चों का ध्यान नहीं रह गया था। अब उन्हें निकालें भी तो कैसे? पर वाह साहब, क्या तज़वीज़ निकाली उन्होंने। कहने लगे - 'बेटा बच्चों के लिए ताजी हवा बहुत जरूरी है। जाओ तुम लोग कोट-बूट पहनकर थोड़ी देर बाहर बर्फ़ से खेलो' और जनवरी की कड़कती सर्दी में उन्हें बाहर धकेल दिया। मैंने जैसे ही कुछ कहने को मुँह खोला, बहन ने जल्दी से प्लेट में पड़ा पकौड़ा मेरे मुँह में ठूँस दिया

और इशारा किया कि शिष्टाचारवश कुछ न बोलूँ। खैर उस हालत में खाना किसके गले से उतरता। फिर भी जल्दी-जल्दी कुछ चबा और कुछ जबर्दस्ती गले के नीचे उतार हमने वहाँ से भागने की सोची। ज्यादा देर करते तो बहन के दोनों सुपुत्र बर्फ से खेलते-खेलते बर्फ़ के 'स्नोमैन' बन जाते। मजा यह कि ऊपर से वो दम्पत्ति फरमाने लगे - 'बस अब आपने घर तो देख ही लिया, जल्दी-जल्दी चक्कर लगाइयेगा।' बहुत रोकने पर भी मेरे मुँह से निकल गया, 'अब तो शायद दो-तीन साल के बाद ही गर्मियों में आना हो सकेगा।' - उनके सवालिया चेहरे का उत्तर देते हुए मैंने अपने बढ़े पेट की तरफ इशारा कर कहा, 'ये महाशय कुछ ब े हो जाएँगे तभी बाहर खेल सकेंगे।'

एक वो थे और एक हम हैं कि गर्मियों में भी मेहमानों के बच्चों को बाहर नहीं भेज पाए, और उनकी हर ज्यादती, ऊपर से हँसते हुए बर्दाश्त करते रहे। हालाँकि अंदर ही अंदर उनके माँ-बाप को कोस रही थी और माँ-बाप ही क्यों, उनकी सात पुश्तों को खरी-खोटी सुनाए जा रही थी।

मुन्ने के राने से तन्द्रा टूटी। देखा, चीज़ें पहले की तरह ही बिखरी प ीं हैं। कहीं कुछ नहीं हुआ। 'मेस' वैसे का वैसा ही प ा था। काश, अलादीन का चिराग़ होता तो फटाफट ज़ीनी को बुलाकर सब साफ करा देती। खैर, कमर में पल्ला कस कर उठ प ी निबटने के लिए।

सफाई के साथ-साथ कसम खाये जा रही थी कि अगली बार ऐसी गल्ती नहीं करूँगी। जैसे बचपन में ककहरा व पहा ा झूम-झूमकर रटते व याद करते थे, वैसे ही राम-धुन की तरह मन-ही- मन बार-बार दोहराया - 'लालच बुरी बला है', और नाक तो अपनी वैसे ही छोटी है, कटी न कटी बराबर, तो फिर उसकी परवाह क्यों? भला हो ऊपर-वाले का, अक्ल दे दी। देर से दी पर दी तो सही........ 'जय कृष्ण हरे, जय कृष्ण हरे,

लालच और नाक के चक्रव्यूह में फँसे,
भक्तों के दुख दूर करे,
जय कृष्ण हरे, जय कृष्ण हरे।'

****

## होली के चित्र (छंद)

**सुभाष ऋतुज**

ईर्ष्या, अहं, बैर भावना के जंगल को,
लपटों में अपनी जलाने आयी होलिका।
लाल, हरे, पीले, नीले, तूली, बैंगनी, चटक,
रंगों से स्वदेश को सजाने आयी होलिका।
एक स्वर्ग ऊपर था दूजा स्वर्ग नीचे आज,
धरती पे अपनी बसाने आयी होलिका।।
आ गये सुहाने दिन पीटते हुये मृदंग,
ओठों पे कबीर औ ठिठोली लेके आ गये।
मन में उमंग संग तन में तरंग लिये,
मस्ताने भंगिया की गोली लेके आ गये।
भर पिचकारियों में रंग प्रेम-प्रीति वाले,
नेह के गुलाल हमजोली लेके आ गये।
बच नहीं पाओगी - जाओगी ब्रजबाले कहाँ,
गोकुल से कान्हा पूरी टोली लेके आ गये।।
तुमसे कन्हाई रंग खेलूँगी मैं जमकर,
कोई भी बहाना न करूँगी आज होली है।
फागुन के पाहुन हो आये तुम मेरे गाँव,
टोली नहीं ये तो मेरी खुशियों की डोली है।
मेरे ब्रज में है आज स्वागत तुम्हारा कृष्ण,
द्वारे-द्वारे शगुन की रोली है, रंगोली है।

## गाँठ

**अक्षय गोजा**

खुल गई गाँठ मन की
मानों युगो-युगों के बाद।

कितना उलझाया
कितना भटकाया,
जैसे आँखों पर प ा हुआ था पर्दा।
सोच थी ख़ास तौर की
रोशनी में भी अँधेरा दिखता था।
कहीं न कहीं हमेशा बँधा-सा रहता था।
छूटने की कोशिश में ज्यों छटपटाता
अधिक कसता जाता था,
दुख पाता था।

ऐसे में कोसता था
घर को
दोस्तों को
स्थितियों को
कर्मों को -
दुनिया-भर को।
ज्ञात नहीं था

मुझको भी रंग दो, इसे भी रंगो श्याम रंग,
अब तक कोरी ये चुनर मेरी चोली है।।
भर पिचकारी जब श्याम रंग मारी तब,
गोरी-गोरी राधिका का रंग श्याम हो गया।
सर से बहा जो रंग राधिका के पाँवों तक,
रोम-रोम हर एक अंग श्याम हो गया।
गलियों से ब्रज की बहा तो मिला यमुना में
यमुना के जल का रंग भी श्याम हो गया।
ऐसा चढ़ा उतरा नहीं वो रंग अब तक,
प्यारी राधिका के संग-संग श्याम हो गया।।
पापों पे ये धरम की विजय के शुभ दिन,
बजते मजीरे औ ं मृदंग याद आयेंगे।
अहं, कपट, द्वेष की ये काली-काली राख,
चटकीले प्रेम के ये रंग याद आयेंगे।
युगों-युगों असुरों औ ं भगतों के बुरे-भले,
हमको वो जीने वाले ढ़ंग याद आयेंगे।
जब-जब होलिका जलेगी इस धरती पे,
प्यारे प्रह्लाद संग-संग-संग याद आयेंगे।।

कि दोष है गाँठ का ही,
आख़िर पता लगाने वाला भी
मन ही होता है।
कोई समझाए तो क्या,
समझ कहाँ पाता है?

लेकिन हुआ कुछ ऐसा
यों बने हालात
संघर्ष भीषण चला
टकराते रहे कठिनाईयों से
झेलीं यातनाएँ।
फलस्वरूप, मुक्ति का संकल्प जगा
राह की भूख बढ़ी।
लंबी कशमकश की आग में तपकर
निखार आया
प्रकाश फैला।
एकाएक गाँठ खुल गई।
****

## दुर्दशा

### डॉ. राम केवल शर्मा मुनि जी

मुझे अपनी दुर्दशा पर न हँसते बनता है, न रोते। छाती पर पत्थर की सिल रखे जी रहा हूँ। कई बार तो जी में आया कि आत्महत्या कर लूँ - इस घुटनपूर्ण जीवन से तो बेहतर ही होगा - एक बार ही तो दुख गुजरेगा। लेकिन हाय, बच्चों का प्यारा, सलोना-सा मुख ा, तोतली बोलियाँ, मेरी गोद में गिरकर तरह-तरह की चीज़ें माँगना, मेरा हवाई-महलों से उन्हें संतुष्ट करना, खेलना, खिलाना, सब जीने के लिए बाध्य कर देते। फिर ये बच्चे क्या खायेंगे? पहनेंगे? इनका कौन साथी होगा? कदाचित् इन्हें द्वार-द्वार रोटियाँ भी माँगनी प ` और लोग दुत्कार दें। दूसरे बच्चों को खाते-खेलते देख ये तरसें और आँसू बहायें। माँ से माँगने पर वे झल्ला-झल्लाकर पीटें और कहें, ंनिगो ` ! चल हट ! ऐसे अभागे न होते तो वे बीच मझधार में छो कर चले जाते। ब ` खाने वाले हो। विधाता ने जब मुँह से कौर छीन लिया, तब क्या? आँसू पी-पीकर जीयो। ं यह सोचकर मेरी छाती फटी जाती और जीने के लिए बाध्य हो जाता। फिर पत्नी का दुर्दशापूर्ण तंगदस्त निराधार जीवन सोचकर त प उठता। कभी-कभी मुझे अपने आप पर हँसी भी आती। कौन-सा इन्हें घी-दूध में डुबो दिया है और अद्धी-तंजेब पहनाकर हिंडोले झुला रहा हूँ। बच्चे भी उतने खुश और आज्ञाकारी नहीं रहते, जैसे मेह न बरसने से धूलें हवा में उ ी जाती हैं। प्यार से भी बुलाने पर उन्हें अभाव के हाथ दूर से ही रोक देते और वे कतराने लगते। मैं सब कुछ समझता हूँ लेकिन क्या करूँ? परिस्थितियों से विमूढ़ व्यक्ति अपना ही सिर पीट लेता है।

पत्नी की बातें न पूछें। इन्हीं सभी हालातों ने उन्हें चि चि ा बना दिया। वे ऐसी न थीं। मैं ही एकमात्र उनकी आँखों का तारा था, गले का हार था - दिल का स्वामी था लेकिन आज शायद बाहरी औपचारिकताएँ ही शेष रह गई हैं। मेरे और उनके विचारों में काफी अंतर आ गया है। बात-बात में तन जातीं और मेरा विपर्यय ही बोलतीं। कभी-कभी तो ऐसा व्यंग्य-वाण चलाती हैं कि जी में आता है कि शीघ्र ही परिवार से आँखे बंद कर लूँ या ओझल हो जाऊँ। तब शायद सूझे कि वैधव्य के अंधकार से बेरोजगार पति कहीं अच्छा था। मेरा भी क्या दोष है? दो विषयों में एम.ए. और एक विषय में पी-एच.डी. हूँ। विचारों और रहन-सहन का शालीन। किसी बुरी लतों का भी आदी नहीं। कुचरित्रता की तो गंध तक नहीं। फिर मुझमें क्या कमी है? जो ये नफरत करती हैं। शायद मेरी बेरोजगारी, धनोपार्जन न करना, शहरों, थिएटरों, क्लबों, पिकनिकों, समारोहों या अन्य नेवते में न ले जाना है। मैं खूब समझता हूँ - दर्शन और मनोविज्ञान का भी

मुझे अच्छा ज्ञान है। ये भी जीव हैं, इनके अंदर भी चेतना है, सोचने की शक्ति है, कल्पनाओं के सपने हैं, आशाओं के महल हैं और भावों-अनुभावों की श्रृंखलाएँ हैं। प्रतीक्षात्मक आशाओं की सीढ़ियाँ जब टूटने लगती हैं तो व्यक्ति तुनक-मिजाजी, चि चि ा, स्वार्थी, क्रोधी, विचार-हीन सब हो जाता है। कभी-कभी मैं उन्हें खूब समझाता। तर्कशास्त्र के प्रमाणों से सुदामा, हरिश्चंद्र और राजा नल, युधिष्ठिर का उदाहरण देकर उनकी सत्यनिष्ठा और पतिव्रता पत्नियों के जीवन का एक ऐसा चित्र खींचता कि वे मौन हो जातीं। मैं कहता - भक्तों ही को भगवान दुख देता है। ताकि वे सदा मेरी याद करते रहें। इससे परलोक तो बनता ही है, भले इस लोक में कष्ट हो और भाग्य का क्या ठिकाना? कभी अपने भी दिन फिरें? इस गाँव में कितनों के दिन तुम्हारे सामने फिरे हैं। रोटियों के मोहताज थे - आज दूध की कुल्लियाँ कर रहे हैं।

खाक फिरेंगे। हमें तो उम्मीद नहीं है कि फिरेंगे वे बोल ही प ीं। स्त्रियाँ प्रायः जवाब देने में पुरुषों से ज्यादा निपुण होती हैं - ज्ञान विचार तो गा ी के एक पहिए के समान है और धन दूसरा पहिया। तुम्हीं जरा सोचो - रोटियाँ, कप , दवा, घर-मकान सब पैसे से होंगे। हाँ, विवेक से इसमें एक सुव्यवस्था आ सकती है। विवेक-हीन का धन बन्दर के गले का हार होता है। ल की भी सयानी हो रही है - शादी कैसे करोगे? दहेज के पहा से सिर दबा जा रहा है। तुम्हारा ज्ञान-विचार लेकर कोई चाटेगा नहीं। कोई दूसरा उपाय सोचो।

क्या सोचूँ? मैंने एक ठंडी साँस ली। सोचा - सब तो करके थक चुका हूँ। जो नहीं करना चाहिए, वह किया। कई बार दुकान की, कारीगरी सीखी, शराब की भट्ठी आजमाई, दलाली की, अन्त में चोरी, बेईमानी की सूझी - लेकिन नहीं। रूह काँप गई - साहस न हुआ। बच्चों की बीमारी देखकर भिक्षा माँगने तक की सोचा लेकिन नहीं - कर्ज तो सही। कर्ज भी कौन देगा? बनियों और महाजनों से हाथ दबे प हैं। जाओ तो वे सीधे मुँह बात नहीं करते और काश्तकारों के तो द्वार ही भारी प ने लगते हैं। देखते ही वे घर की राह लेते हैं। कई बार सरकारी नौकरियों के लिए तो आई. ए.एस., पी.सी.एस. और अंत में टी.सी., गार्ड, सेक्रेटरी तक के लिए कम्टीशन किये, लेकिन सब व्यर्थ। पढ़ने के लिए पुस्तकें, न दौ ने के लिए अर्थ। उँचाई से गिरता हुआ व्यक्ति एक तिनके को ही पक ने के लिए हाथ-पाँव बढ़ाता है। बोला - अभी क्या कुछ बाकी है? भाग्य ने तो न जाने कितने गुल खिलाये - गालियाँ, जूते डंडे, तमाचे सब।

हाथ में चू ियाँ डाल लो और घर में बैठकर भाग्य का रोना रोओ। वे माथा सिको कर बोलीं - तुमसे कुछ न होगा। न मेहनत, न नौकरी ही। और वे तुनककर दूसरी ओर चली गयीं।

मेरे हृदय में जैसे किसी ने भाला पिरो दिया। मेरे घावों पर वे मरहम न लगाकर और उधे ती रहतीं। इसीलिए मेरे सारे दाढ़ी-बाल खिच ी हो गए हैं। जब कि अभी मैं खूब जवान हूँ। कुछेक सरकारी नौकरियों के लिए अभी उम्र भी अवशेष है, पर क्या कहूँ, अपनी विवशता। मैं जर्जर हूँ, बूढ़ा हूँ। पङ्गु हूँ - शक्तिविहीन हूँ और जीते जी निष्प्राण हूँ।

(२)

जब मेरी शादी का दिन निश्चित हुआ था तो मुझे दुख-मिश्रित-हर्ष हुआ था; क्योंकि मैं समझदार था और जानता था कि विवाह के बाद परिवारवालों की नज़रें बदल जाती हैं। किन्तु तरुण-आवेग के जलाधार में सारे दुख-शोक बह जाते हैं और आनंद के कमल खिल उठते हैं। मैं विभोर हो उठा। सपनों के महल सजने लगे। स्वर्ग की परी-सी पत्नी आने लगी और प्रेमयुक्त वाणी से अमृत-रस बरसाकर चली जाती। सपने टूटते और मैं विह्वल हो उठता। शादी से पहले ही पत्नी से अनन्य प्रेम हो गया। उसके रूप की बनावट सुन-सुनकर मैं आपे नहीं समा पाता।

जब पत्नी का प्रथम दर्शन हुआ तो मेरा हृदय-मृग आनंद और गर्व के सैंक ों कुलांच लेने लगा। दीपशिखा-सी अंगुलियाँ, चाँद-सा मुखमंडल, कमलदण्ड की तरह बाँहें, स्वस्थ सुगठित शरीर, ब ी-ब ी आँखें - मैं सहज ही सम्मोहित हो गया। सुन्दरता के प्रति भले अत्युक्ति हो, किन्तु सम्भवतः सभी तरुण की अभीप्सायें भाव संङ्कलित क्षुधा-पी ा की पिपासित दृष्टि के उन्माद में प्रायः यही चीज़ें दृष्टिगत होती हैं। कुछ दिनों में मैं विलासी और कामचोर हो गया। दिन भर खाना और सोना। भाभियाँ ऐंठ गईं, माँ घृणा करने लगी। शेष लोगों के तो शब्द भी मँहगे होने लगे। जिधर से भी ध्वनि आती - जब देखो घर में घुसा रहता है। खेती-बारी, काम-धाम सब जाये भा में। मुझे सुनकर हँसी आती। आखिर इनके भी तो कुछ दिन इसी नवीनताओं में बीते होंगे। फिर ये इतने कुढ़ते क्यों हैं।

मेरी भाव-प्रवणता ब ी ही गहन और पैनी है। परिवर्तन की निर्मम दशा को खूब समझ रहा हूँ। तर्क बुद्धि से उसकी ज ता और संवेदन-हीनता को धिक्कारता भी - परंतु पर-कटे कबूतर की तरह त प कर रह

जाता। जहाँ मैं परिवार के लिए गौरव था, भविष्य का सोपान था, आशाओं का फूल था - हाय! अब केवल भार-स्वरूप हो गया। एक मजदूर से भी बदतर दशा हो गयी। खेत जोतना, मे बाँधना, अन्यान्य सभी कार्य खेती और पशुपालन विभाग मेरे सिर हो गया। खेत में काम करते दोपहर क्या तीसरा पहर भी बीतने लगता किन्तु कोई जलपान की भी फिक्र नहीं करता। धूप और कीच से तमतमाया, भूख से बावला घर आकर पत्नी पर ही सारा क्रोध उतारने लगता। शायद परिवारवालों के लिए यह सबसे प्रसन्नता का दिन होता। पत्नी एकांत में बैठकर रो-धोकर चुप हो जाती। मैं भी क्षुधा-तृप्ति के बाद क्रोधहीन हो जाता। २-४दिन तनाव के बाद पुनः वही प्रेम, वही आग्रह।

पत्नी में भी एक विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगा। जहाँ भाभियाँ प्रसन्न, चुहलबाजी करती हुई या विशेष रूप से सजती-धजती, गाती-हँसती दिखाई देतीं, वहाँ मेरी पत्नी गुमसुम, अकेली मजदूरनी की तरह कार्यों में व्यस्त रहती। कभी-कभी मैं इसका विरोध करते हुए जब उनसे कहता और प्रेमपूर्ण शब्दों से प्रसन्न करना चाहता तो आँखों में आँसू भरकर वह कहती - 'क्या करूँ? मेरी किस्मत ही ऐसी है। एक तो छोटी हूँ - दूसरे तुम्हारे न कमाने से और छोटी हो गई हूँ। एक तुम हो कि बाहर निकलने का नाम ही नहीं लेते, नहीं यह नौबत क्यों आती।

मैंने थो में पूरा आशय समझ लिया, किन्तु मैं अपनी विवशता को क्या कहूँ? बहुत से द्वार खटखटाये, लेकिन भाग्य ने हर दरवाजा बंद रखा। खेती मैं करूँ और अनाजों की मालकिन भाभियाँ हैं। परिवर्तन की दृष्टि और क्रूर होने लगी। खान-पान वस्त्राभूषण में भी अन्याय होने लगा।कभी-कभी व्यतिक्रम प्रकाश में आने पर भाभियाँ गर्व से बोल उठतीं - 'जिसका आदमी छाती फा कर कमा रहा है, उसके बीबी-बच्चे सोने के कौर खायेंगे और हिंडोले झूलेंगे। किसी को क्या? जिससे न देखा जाये, चूल्हा अलग कर ले। हम तो इसी तरह रहेंगे। हाँ तुम भी कमाओ-खाओ और बीबी को पालने झुलाओ। तुम्हारा कोई हाथ पक तब कहो। भगवान जिसे सुख दे रहा है, वह दुख में नाहक क्यों मरे?'

इसी तरह भाभियों के व्यंग्य और भाईयों की भर्त्सनाओं से हृदय छलनी होता रहा। मैं एकदम मौन हो गया। आखिर मुरझाया हुआ फूल डाली से कब तक टिके? बहुधा निश्चेष्ट अन्याय-सहना भी अपराध ही होता है। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक कार्य में अन्याय खुलकर होने लगा। परिवार के और सदस्यों का हाल और कूटनीति न पूछिये किन्तु भाभियाँ स्वाभिमान और अहंकार से सदा ऐंठी रहतीं जैसे दुनियाँ की सम्पूर्ण सम्पदायें और सुख उनके चरणों पर धरे प हैं। अब सोनार से घर में घंटों लेन-देन की बातें होतीं। बजाज खाली हाथ न जाते। उनकी बनाबटी हँसी कलेजे में तीर की तरह चुभ जाती - जैसे लगता संसार का सम्पूर्ण वैभव उन्हीं के चरणों तले बिछा हुआ है।

प्रायः आपसी कटुता नासूर से कम नहीं, जो कभी ठीक होता ही नहीं। बात पूछने की कौन कहे, दर्शन भी अभिशाप और कष्टदायक प्रतीत होने लगता है। नफरत की लपटें ईर्ष्या के आकाश को छूने लगती हैं। तब सबल पक्ष निर्बल पर हर रणनीति से हावी हो जाता है और पारिवारिक मर्यादायें टूटकर ईर्ष्याभाव से द्वन्द्व का प्रत्यक्ष नर्तन करने लगती हैं। उस समय कोई भी परिवार महाभारत का अखा ा बन जाता है, परिवार टूट जाता है और अपने ही भाई एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। एक ही गर्भ से उत्पन्न दो सिंह आपस में ल कर मर जाते हैं।

'सुन रहे हों न?' वे रोनी सूरत लेकर बोलीं - 'कैसी-कैसी दिल में चुभने वाली बाते, हो रही हैं। कलेजा तो छलनी हुआ जाता है और तुम चुपचाप सुनते जाते हो?'

'मैं घ ा भर जाने का इंतजार कर रहा हूँ। कुछ दिन और जब्त करो। वक्त आने पर आप ही फट जायेगा।'

'तुम घर छो दो तो सब ठीक हो जाय।' वे सिसकते हुए बोलीं - 'इतना छाती फा रहे हो - खेती के पीछे। जरा अपनी दशा तो देखो। गुलाब जैसा चेहरा, बूढ़ों से भी बदतर हो गया है। इतनी मेहनत बाहर करते तो खुशहाल रहते। मैं भी तुम्हारे पैसों पर घमंड करती। खेती तुम करो और मालकिन तुम्हारी भाभियाँ हों। तुम कैसे सहते हो? लुंगी-गंजी के लिए भी तुम्हें तरसना प ता है। मुझे तो साल में एक लुगरी मिल जाए, बहुत है।'

गुलाब की डाली में फूल तो खिला किन्तु रसहीन, निर्गन्धि, शोभाविहीन।

(३)

करीब तीन वर्ष के ऊपर हो रहे थे। मैं अब दो बच्चों का बाप भी हो चुका हूँ। बीच का समय कैसे निकल गया, न पूछें। खेती के अपमान भरे जीवन से ऊबकर कई बार भागा, धोबी का काम किया, मोची

बना, नाई बना, रिक्शा चलाया, तस्करी किया लेकिन नहीं सफलता नहीं मिली। अंत में पुनः हिम्मत बाँधी और बच्चों के गर्भकाल को सकुशल रखने के लिए मजदूरी की। पत्नी का जेवर बेंचा, व्यवसाय किया, फिर भी वही के वही दिन ! वही तकदीर ! जैसे शिव का धनुष न उठाये उठे, न हिलाये हिले।

मैं भी हिम्मत हारने वाला न था। जीवन को एक यंत्र मानकर सदा संचालित होता रहा। भाग्य को समझने का प्रयत्न किया। ज्योतिषाचार्यों के दरवाजे खटाटाये। खूब ठगाया-लुटाया। उनकी रस-भरी चापलूस बातों से मेरी छाती फूल आती। क्षण-भर के लिए मैं किसी राजा-महाराजा से कम न रहता। बस शनि हटा, भाग्य खुला। रुपयों की तो बरसात होने लगेगी। वाहन सुख लिखा है - वाह ! वाह ! खाने को रोटियां न मिलें और सपने मोटरकार और महलों के होने लगे। खैर ! एक मंजिल छूटती है तो दूसरी मिल ही जाती है। विपत्तियों के थपे ों ने इतना परास्त किया कि अब ईश्वर के अलावा कोई रास्ता न रहा। बस रास्ते बदल गये। मठ-मंदिरों की दौ  होने लगी। जीवन में पूरा परिवर्तन-सा आ गया। जहाँ बैठता आध्यात्मिक संतोष और शांति की बातें करता। परमेश्वर ही सब कुछ है, जगत-नियंता, जीवन-स्वामी। सिद्ध गुरू की तलाश में खूब भटका। शास्त्रार्थ और गुरु का परीक्षण किया किन्तु वाक्पटुता और तर्क के सामने भावी गुरू मैदान छो कर भाग जाते। कोई-कोई तो हार कर मारने-मरने पर भी उतारू हो जाते। किन्तु इस संगति को नहीं छो ा। आध्यात्मिक चेतना इतनी जागृत हुई कि कई बार तो माह का माह तपस्या और ध्यानयोग में व्यतीत हो गया। शब्द-सुरति का खूब अभ्यास किया। योगासन-प्राणायाम सबको साधा। किन्तु आर्थिक विकृति सब जगह डंक मारती रही। इन्हीं जीवन में ज्योतिष का भी अध्ययन किया। हाथ देखा, दक्षिणा पाई, यजमानी की लेकिन सुरुचिपूर्ण व्यवस्था कहीं न मिली। परिवार वालों की नज़रों में हास्यास्पद बन गया। कोई बहुरुपिया कहता, कोई नटवरलाल। कोई कामचोर, कोई धूर्त। कोई मजनूँ तो कोई पाखंडी। थो` ही समय में बहुत उपाधियाँ मिल गयीं। सफलताओं की अवरुद्ध गति में प्रायः बहुधंधी आयामों के ही बीज अंकुरित होते हैं।

आषाढ़ की पहली झ ी लगी थी। बीज और जुताई के पीछे किसान बावले हो रहे थे। मैं चिन्ता से सूखकर ह  हो गया था। उचित भोजन, न सुरुचिपूर्ण व्यवस्था ही। एक ही चूल्हे पर बने भोजन में भी खुलेआम अन्याय होने लगा। चार थालियों में चार किस्म के पकवान परोसे जाते। हम दोनों मजदूर थे। छालीदार दूध-घी सब भाईयों को चाहिए क्योंकि नौकरी करते हैं। खेत की मे  पर कभी झाँकने न जाते लेकिन गल्लों के मालिक वे रहें। अन्याय और उपेछा के बादल इतने गहन हो गये कि चारों ओर अंधकार की भीषणता में सारे मार्ग अदृश्य हो गये। विचारों के थो` मेल भी टूटकर ईर्ष्यामिक हो गये। एक ही गर्भ से उत्पन्न भाई विषधर सिद्ध होने लगे।

एक बार मेरे ल के शीलू को बुखार आ रहा था। कोई दवा-दारू न होने से रोग बिग  कर और भयंकर हो गया। गाँव की दुकानों की टैबलेट ने उस पर और रंग चढ़ाया और न्यूमोनियाँ हो गया। दो-एक उल्टी में खून का रंग भी दिखाई दिया। पत्नी अधीर हो गई और सिर पीटकर गिर प ी। घर में कुहराम मच गया। माँ शीलू को गोद में लिए सहला रही थी। शोर-गुल सुनकर प ोस के कई स्त्री-पुरुष जमा हो गये। कई दिनों से बच्चे की आँखें नहीं खुल रही थीं। कोई झा ने बैठ गया तो कोई छाती पर घी-नमक मलने लगा - जैसे वैद्यों की रेल-पेल मच गई। किसी की जुबान बंद न थी - परिवार वालों की भर्त्सनाएँ हो रही थीं। एक स्त्री - `का बूढ़ी? कैसा तुम्हारा दिल है? बच्चा हाथ से निकलना चाहता है और तुम अनाज का मोह करती हो? बेचारे छाती फा -फा कर गल्ला पैदा करते हैं और कौ ी-कौ ी को मुहताज?`

`मैं क्या करूँ? मेरा अख्तियार रहता तो इन बहुओं की लौं ी रहती?` माँ रोने लगी - `अभागे हैं। बाहर कमाते तो काहे को यह होता? खेती जाये भा  में। दो पैसा रहता तो बच्चों के काम आता। भाईयों के पीछे जीवन तलख कर रहा है।`

एक आदमी - `आखिर तो ल का मर जाय, यहीं न?`

दूसरा - `इस समय किसी अच्छे डॉक्टर को दिखाने की जरूरत है। जल्दी इन्तजाम करके इसे लेकर शहर भागो। शायद ! भगवान ब ा कारसाज है। रख दे मुँह की लाली।`

एक महाजन - `हाँ-हाँ ! मैं रुपये दिये देता हूँ - पहले बच्चे की जान बचाओ। मुझे कुछ भी दे देना, अनाज, रुपये।`

भाभियाँ घर के बाहर न निकलीं - जैसे आपद-काल देख चूहे बिलों में ही प` रहते हैं। भाइयों से कोई मतलब नहीं। शीलू को कुछ दूर माँ-पत्नी के साथ पहुँचाकर मैं वापिस चला आया। क्रोध और घृणा से शरीर जला जाता था। बस शीघ्र ही कोठे पर चढ़ा। मजदूर को साथ लिया। भूसे से गेहूँ के बोरे निकालने

लगा। चार बोरे गेहूँ महाजन के हवाले किये, लेकिन यह क्या? पच्चीस बोरे गेहूँ रखे गये थे, बीज और विक्रय के लिए। लेकिन दस ही बोरे हैं। मेरे शरीर में काटो तो खून नहीं। भाभियों से पूछा, उनके बच्चों से जाँचा, पर सभी ने एक स्वर में जवाब दिये - मैं क्या जानूँ? हम लोगों से क्या मतलब? आखिर इतने गेहूँ चूहे खा गये, तो खाली बोरे क्या हुये? मैं अवाक् रह गया। दूसरे के घरों में स्त्रियों की चोरी से मैं खूब वाकिफ़ हूँ। आदमी घर बसा रहे हैं और स्त्रियों में घर लुटाने की हो  लगी हुई है। बनिये चोरी के माल से लाल हो रहे हैं और महल तान रहे हैं। हम उज ` जा रहे हैं। एक सप्ताह में सारी कारगुजारी मालूम हो गयी। हो  लगाकर भाभियों ने चुरा-चुराकर गेहूँ बेंचा और रुपये बनाये। इधर शीलू की पन्द्रह दिनों के बाद आँखें खुलीं ते भाइयों के चूल्हे अलग जलने लगे। जैसे जलते हुये तवे पर किसी ने ठंडा पानी डाल दिया।

जिस पौधे को मैंने अपने खून से सींच-सींकर जिलाया था, उसे आज भाइयों ने बहुत बेरहमी से काट डाला।

(४)

आज करीब मैं पाँचवें वर्ष घर आया हूँ। इन पाँच वर्षों में कहाँ रहा? क्या किया? न पूछें। एक खत भी नहीं भेजा। सोचा, अब बाहर निकला हूँ - खूब मोटी रकम लेकर ही घर चलूँगा। पत्नी को वस्त्राभूषणों से लाद दूँगा और नोटों का पुलिन्दा सामने फेंककर कहूँगा - अब तो खुश हो? बच्चे मनचाहा खायें और पहनें। तुम भी ऐंठकर भाभियों के सामने रहो और अच्छे-अच्छे पकवान से उन्हें रिझाओ। वे भी समझें कि सभी दिन एक समान नहीं होता। पर हाय ! घर में ताला बंद था। भाभियाँ मुँह फेर लीं। वे कहाँ गयीं? क्या हुआ? कुछ समझ में नहीं आया। मन में ब ा उल्लास था। शीलू और अप्पी ब ` हो गये होंगे। स्कूल जाते होंगे - उनके लिए कप ` लाया हूँ - पहनाकर जरा देखूँ छोटे तो नहीं हैं। लेकिन वो घर से नदारद। मुहल्ले से मालूम किया, मायके गयी है। क्रोधजनित संतोष हुआ, सुरक्षित होंगी। दाना-पानी को कौन पूछता है। उल्टे पाँव चल दिया ससुराल। गाँव की स्त्रियाँ और पुरुष ऐसे देख रहे थे जैसे कोई अजनबी जंतु उनके बीच आ गया हो। कौन है? पहचान में नहीं आता। कैसे हो गये हैं? और जानकर उनकी आँखों में मैंने आँसुओं को भी देखा लेकिन कारण जानने का प्रयत्न नहीं किया। स्त्रियों का स्वाभाव प्रायः बहुत लचीला और कोमल होता है। रोना-हँसना तो उनका स्वाभाव होता है। अब दाना-पानी भोजन का भी आग्रह होने लगा, लेकिन मैं था जीवनसङ्गिनी और बच्चों के दर्शन का बावला, ठहर न सका।

प्रायः मनुष्यों की दो स्थितियाँ होती हैं - सुखमय जीवन की स्थिर और व्यवस्थित दशा तथा दुखमय विपत्तियों और असफलताओं के अस्थिर जीवन का बीह  मैदान, जहाँ बगुलों और उल्लुओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। चिर-दिनों पर आया सुखी और व्यवस्थित व्यक्ति उदारता के अहङ्कारमय प्रेम से पत्नी का भोग-सुख से आलिंगन कर, प्रेम प्रदर्शित कर स्वयं सुखानुभूति करना चाहता है और अस्थिर व्यवस्था का दुखी व्यक्ति अपनी क्रूर निष्ठुरता और अभाव को उसके दुखमय अभावात्मक अव्यवस्थित किन्तु संतोषप्रद जीवन की सुरक्षा के लिए अपने कलेजे को निकाल कर उसके कदमों में रख देने का होता है।

प्रथम में सुखानुभुति का महत् आनंद होता है, तो दूसरी में आत्म-समर्पण। पहली में सुखानंद है तो दूसरी मे स्वयं को तपाकर पत्नी को परमसुखानंद प्रदान करने की त्यागमय जिज्ञासा। इन्हीं कुतर्कों में मंजिल कटी। अब आ गया हूँ ससुराल। सास-श्वसुर का चरण-स्पर्श किया। वे लोग कुछ घबराये हुए संयत हो, पहचानने लगे, सोचने लगे।

ˈआप शायद. . . . तुम ओफ ! श्वसुर जी बोले।

ˈहाँ-हाँ मैं ही। आज ही आया हूँ लखनऊ से।ˈ

कैसी तुम्हारी दशा हो गयी है? ˈ सास की आँखों में आँसू थे और हृदय में पी ा। बोलीं बैठाते हुए - ˈकैसा था, कैसा हो गया। समय जो जो न गुल खिलाये। अभी तो कोई तीस साल उमर होगी । दाढ़ी बाल एकदम सफेद हो गये। चेहरे पर ऐसी झुर्रियाँ निकल आईं कि क्या कहूँ। खैर पानी पीयो। कैसे रहा? न कोई चिट्ठी न पत्री? ˈ

ˈवह कहाँ है? और बच्चे? ˈ मैने बैठते हुए थो ा उनका आहट लेकर पूछा। सोचा - मेरी अवाज सुनते ही बच्चों को दौ कर मेरे इस टूटे हुए कलेजे से लिपट जाना चाहिए। शायद स्कूल गये हों।

ˈपहले दाना-पानी कर लो, वह सो रही है। बच्चे स्कूल में हैं। ˈ किन्तु सास की आँखों से अनवरत आँसू गिर रहे हैं और वे पोछती जा रही हैं। श्वसुर कुछ लोक मर्यादा को देखते हुए गीली आँखों बाहर हो लिये। प्रेम के पागल को पानी कहाँ अच्छा लगता, किन्तु औपचारिकता का निर्वाह किया।

'शीलू और अप्पी कहाँ हैं?' प्रेम वियोग का मारा प्रायः विवेक शून्य हो जाता है। मैं और विक्षिप्त हो उठा। पाँच वर्षों के अंतराल में बढ़े बच्चों को देखकर, समेटकर कलेजे में डाल लेना चाहता था।

'स्कूल गये हैं, शाम को आएँगे।'

आशा-जनित संतोष हुआ किन्तु उनकी भंगिमा मुझे रोने के लिए बाध्य कर रही थी - 'किसी को भेजकर बुलवा लें।' मैंने कहा।

'अच्छा !' कहकर वे मुझे पत्नी के पास ले आईं। देखते ही उन्हें मैं जैसे पहा से गिर प ा। मैं पहचान न सका। इतनी घुल गयी थी कि अब मरणासन्न हो, आँखे बंद कर बिस्तर पर प ी थी। शायद दो-एक दिन की और मेहमान थी। मुझे पाकर उनके शरीर में जैसे तूफान का बल आ गया और उठ बैठीं। अनंत पी ा से उनकी आँखों के अश्रुनद सूख गये थे।

'कहाँ, किस तरह रहे, कुछ खबर भी नहीं ली। मेरी तो अब जीने की आशा नहीं थी? शायद अब तुम्हें पाकर ठीक हो जाऊँ?' वे बोलीं।

'तुम्हें क्या हो गया है?' मैं रो प ा - 'यों अपने को घुला लिया कि कंचन-सा शरीर राख हो गया।'

'क्या करती? तुम जो नहीं आए। पत्र भी दिया होता तो एक सहारा पाकर ठीक रहती।'

'मुझे क्षमा करो, सच।' मैं त प उठा - 'मैं नीच हूँ, निर्दयी हूँ, पातकी, धूर्त, कामचोर, स्वार्थी सभी कुछ हूँ।'

'मुझे और न त पाओ। यह बताओ कहाँ किस हाल में रहे? शायद सुनकर मुझे बल मिले और जी जाऊँ . . . .।'

'सुनो. . . .' और मैं कहता रहा - वे सुनती रहीं।

(५)

लखनऊ शहर अपने गुणों के लिए सुविख्यात है। मैं भी स्टेशन पर आ पहुँचा हूँ। रात का समय। अनजान, अपरिचित शहर। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आया। विपत्तियों और वाक्‌वाणों का घायल सब कुछ करने पर उतर आता है। मैंने कुली का काम शुरू कर दिया। थो े ही दिनों में बहुतों से मेल-मिलाप हो गये। अब भा े पर एक कोठरी भी ले ली। व्यवस्था बनने लगी। परिग्रह जब विक्षिप्त और पागल होता है तो चोरी का जन्म होता है। एक दिन गा ी में एक लावारिस बक्सा देखकर मैं लोभ से तिलमिला उठा। मेरे रोम-रोम सजग हो उठे और आहट लेकर भारी-भरकम बक्सा उठा लिया और आया कमरे पर। बक्से में ताला बंद था। किसी प्रकार तो ा, खोला। देखकर चौंक उठा। शरीर का खून सूख गया। जुबान तालू में सट गई, यह तो लाश है। बस शीघ्र ही बंद कर दूसरा ताला लगा, अवसर देखकर गा ी में दे मारा और दुम दबाकर पसीने से लथपथ भाग निकला। कोई दो दिनों के बाद कार्य शुरू किया। बहुत जल्दी ब ा आदमी बन जाना चाहता था। कुछ मनचले दिलेर-दिलासा प्लेटफार्म के लुटेरे चोरों, उचक्कों से मुलाकात हो गयी। इस व्यवसाय के लिए मेरी हिम्मत न प ी लेकिन उनकी लम्बी-चौ ी भूमिका ने मुझे शीघ्र ही लखपति बनने के लिए बाध्य कर दिया और उ ाये गये माल को उनके स्थान तक पहुँचाने का ठेका ले लिया। रुपये में शेयरदार हो गया। दिल में दहशत और पैरों में आँधी का तूफान रहता। कार्य प्रगति पक ा। लाभ ने लोभ को और लम्बा बनाया किन्तु भिक्षुक से राजा की गद्दी नहीं सँभलती। मेरी भी यही दशा हुई और छः मास जेल में स ा। कितने लात, घूँसे और डंडे खाये, यह न पूछो। फिर भी तुम्हारे लिए जीवित रहा।

'ब ा दुख सहा। फिर क्या हुआ? कैसे छूटा?' पूछा उसने। मैंने एक ऊँची साँस ली। 'सजा तो दो वर्षों की हुई थी लेकिन हमारा यूनियन ब ा हरफन था। रुपये-पैसे खर्च करके छः माह में छु ा लिया। लौटने पर इस पेशे को त्याग दिया और रिक्शा चलाने लगा। स्टैण्ड के बगल में एक बुक-स्टाल वाले से दोस्ती हो गयी। परिचय जानकर वह ब ा प्रभावित हुआ और बसों के ठेके पर किताबें बेचने का आग्रह किया। अब मैं किताब बेचते-बेचते स्वयं लेखक बन गया। थो ी स्थिरता आयी। एक ड्रामा पार्टी से सम्पर्क हुआ। अब थो ा और चमकने और स्थिरता का अवसर मिला। मेरा सूत्रधार का काम प्रमुख हो गया। कभी-कभी मुख्य नायक का अभिनय तथा किसी-किसी वाद्यों का काम भी सँभालने लगा। मेरी ख्याति होने लगी। मैं स्वयं ड्रामा लिखता और उसका मंचन करवाता। निर्देशन वगैरह सब मेरे जिम्मे था। यानी मैं पूरा मालिक हूँ। मेसमेरिजम के खेल का भी अच्छा ज्ञान हो गया। हौसला बढ़ा, दर्जी के अलावा मैं स्वयं पात्रों के अनुसार वर्दी सिलता-सिलवाता हूँ।

मेरा क्षेत्र व्यापक हुआ और लखनऊ में मेरे नाम और ड्रामे की ब ी शोहरत हुई। ब ी-ब ी पार्टियाँ मेरे सामने नतमस्तक हो गयीं। बाई जी लोग तो मेरे चरण चूमती हैं। मेरी माँग बढ़ गयी। मैं एक अच्छा लेखक हो

गया हूँ। नाटक के अलावा कहानी, उपन्यास निबंध सब लिखने लगा हूँ। मेरी डिग्री ने चार-चाँद लगा दिया। यह देखो मेरी छपी हुई किताबें भी है। आशा है, किसी कॉलेज में अध्यापक भी नियुक्त हो जाऊँ। कुछ लोगों से बातें भी चल रही हैं। मेरे कभी-कदा के व्याख्यान से कॉलेज के लोग काफी प्रभावित हैं। किन्तु हाय ! यह सब व्यवस्था मिलते-मिलते करीब तीन वर्ष लग गये। उसके बाद ज्योंही मेरे पास कुछ पैसे हुए, मैं तुम्हारी खबर लेने आया हूँ। सच मानों मैं कितना त पता था, इस जुबान से बयान नहीं कर सकता। अब तो तुम्हे भी ले चलूँगा। अरे हाँ, थो ा और रुक गया होता तो मेरी सेहत भी ठीक हो गयी होती लेकिन तेरी और बच्चों की याद ने इतना भिगो-भिगोकर मारा कि माँस चढ़ने को कौन कहे, हड्डियाँ भी खोखली होती गईं।

पत्नी की आँखें प्रसन्नता से चमकने लगीं। पुस्तकों को उलट-पुलटकर देखने लगीं - तब तो ब े नामी हो गये हो? ब ा आदमी बनते देर न लगेगी।

नहीं मैं बोला - पैसों का सिलसिला शुरू हो गया है, भगवान ने चाहा तो बहुत ऊँचा पद मिलेगा। तुम्हारी सारी ख्वाहिशें पूरी कर दूँगा। वैसे मैं काफी रूप से कप े, सा ी सब लेकर आया हूँ। जरा पहनकर देखो। सहारा दूँ, उठोगी? बच्चे भी अभी नहीं आये? (कप े दिखाते हुए) ये सब उनके लिये हैं। जरा पहनाकर देखता, छोटे तो नहीं हैं न? अब तो वे काफी ब े हो गये होंगे?

हाँ, कहते हो तो लाओ जरा पहन लूँ, नहीं तो तुम्हे भी दुख होगा। जरा सहारा दो।

और वे कप े पहनीं, सजी-धजीं। माँग में सिन्दूर पहनाने का आग्रह कीं। मैंने शीघ्रता की और वे लेट गयीं। बोलीं - एक साँस लेकर - अब मेरी कथा न पूछो - जिन विपत्तियों को झेली, वह अकथ्य हैं। तुम जानते हो, मर्द और अर्थविहीन स्त्री की क्या गति होती है? अब सब बताने का दम नहीं है। बस, तुम्हारी आबरू रख ली, अपने को मिटाकर। थो े में सुन लो। घर देखने ससुराल गयी थी। वहाँ हम तीनों बीमार प गये। मैं एकदम कमजोर हो गयी। न दवा के लिये पैसे थे, न मायके आने की ताकत। ठीक होने की राह जोतते-जोतते बच्चों की दशा और खराब हो गयी और वे दोनों परलोक सिधार गये।

लाश क्या हुई, कहाँ गई? मुझे कुछ पता नहीं। मैंने आँखें बंद कर लीं। शरीर ज हो गया लेकिन उनकी आँखें खुली थीं और वे कहती जा रही थीं - मैं जीती रही। तभी से घुलने लगी। न तुम, न बच्चे। तुम रहते तो उनकी इतनी फिक्र न होती। माता का हृदय तुम तो समझ ही रहे हो ! पति के अभाव में बच्चे ही आधार होते हैं, वह भी टूट गया। तुम होते तो तुम्हे ही देखकर जी बहला लेती। अब तो मैं भी जा रही हूँ। यहाँ अच्छे लोगों के लिए जगह नहीं। भगवान् तुम्हारा नाम रोशन करे। मेरी गलतियों को क्षमा करना। भगवान् तुम्हे ठीक से रखे और उनकी आँखें . . . झप गयीं, शरीर निश्चेष्ट हो गया। नहीं . . . नहीं, मैंने सिर धुन लिया . . . मत जाओ, मत जाओ, तुम मुझे छो कर नहीं जा सकतीं . . . नहीं जा सकतीं और चेतनाशून्य होकर गिर प ा।

## गृहणी

**डॉ. सरला अग्रवाल**

वह
उठती है मुँह अँधेरे
भोर की प्रथम किरण के साथ
बना चाय
जगाती औरों को
बच्चों को भेज स्कूल
निभाती दायित्व घर के
कराती जमा
पानी, बिजली के बिल
लाती सब्जी, दाल, चावल
नून, तेल
सँवारती घरौंदा।
भूल गई इन सभी के बीच
वह
कविता - सितार
गीत - नृत्य
कालेज की पढ़ाई;
संगीत उसका पविार की खुशियाँ
पढ़ाई उसकी
बच्चों को पढ़ाना
दौ ते रहना
तेज रफ्तार जीवन-चक्र में
बाँटते मृदुहास
धुरी, पति का विश्वास
आते याद
फुर्सत के वे दिन
बेफ्रिक बचपन
हँसना-हँसाना।
पर अब
जीवन के इस महायज्ञ में
जरूरी है
स्वयं समिधा बन
जीते जाना।

## मुझको उससे प्यार है

डा. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि

जो शूलों पर चले फूल ही मान के,
मँझधारों में चलता सीना तान के,
जो चलता है अंगारों को चूम कें
दु:ख में भी मुस्काता, चलता झूमके
जिसकी राहें मिलती हैं व्यवधान में
सच कहता हूँ, मुझको उससे प्यार है।
हर नर के दु:ख को जो अपना मानता है,
आगत कठिनाईयों को सपना मानता है,
जो हर दुखियारों से करता प्यार है,
जिसका अपना ही सारा संसार है,
जिसका दिल रमता भूखे इंसान से,
सच कहता हूँ, मुझको उससे प्यार है।

जो गाता है गीत धरा की बीन पर,
देता है अलोक तिमिर से छीनकर,
जो निज जीवन को आगों पर तौलता है,
मरघट में भी हरदम जो बोलता है,
जो शंखों के फूँके गीत विहान में,
सच कहता हूँ, मुझको उससे प्यार है।
जो धरा को बदले स्वर्ण-विहान में,
सच कहता हूँ, मुझको उससे प्यार है।
जो मुरझाई कलियों को मुस्कान दे,
विष का प्याला लेकर स्वयं अमृत-पान दे,
जो धरती पर स्वर्ण-विहान ला दे,
सच कहता हूँ, मुझको उससे प्यार है।

# परिपूर्णता

डा. सुषम बेदी

परिपूर्णता मुझे रास नहीं आती
जैसे जंगल की छाया में
धूप के कतरों की चाह
या बसंत की फुलवारी में बादलों की याद।
जैसे थाली में परसा स्वादिष्ट भोजन
और हसरत किसी अनपरसे स्वाद की
या बरसात से सिंची, लदी हरियाली में
इच्छा शीत की सुडौल बेपर्द शाखाओं की।
क्यों घबराती हूँ मैं परिपूर्णता से?
और क्यों तलाशती हूँ संपूर्णता?
जो अंतरिक्ष की तरह एक खाली सम है
या आकाश की तरह है, है नहीं
फिर भी उसकी खोज में
हर पूरेपन के अधूरेपन को पहचानती-नकारती
सहेजती-सहती, बेहाल अतृप्त, जब भी
बढ़ती हूँ उसकी ओर,
पहुँचते ही शुरू होते हैं
अधूरेपन के नये दौर।

***

# आँसू

डा. उषादेवी कोल्हटकर

आँसू समझते हैं, प्यार की भाषा
आँसू जीते है, ममता की भाषा
आँसू समझते हैं, विदाई का दर्द
जब चला जाता है कोई अपना हमदर्द।
आँसू बनते हैं मोती
जब गिरते हैं हमदम की हथेली पर
आँसू बुझाते हैं प्यास
जब होंठ पीते हैं उनका दर्द।
आँसुओं की भाषा
एक स्वाभाविक भाषा है
कुदरत की देन है।
इंसान कवि होकर भी
आँसुओं को समझौतों की भाषा सिखाते हैं
दर्द समझकर भी, दर्द को छूने से कतराते हैं
नहीं जानते वो....
आँसुओं को परायी ज़ुबान सीखना अच्छा नहीं लगता
समझौतों को अपनाकर जीना अच्छा नहीं लगता
कवि के स्पर्श को, संवेदनक्षमता को भी
आँसुओं को पनाह देना नहीं आया
जिन्दगी को पाकर भी जीना नहीं आया।

***

# हम हैं पहरेदार

डा. मीना पंड्या

शिष्य कुर्सी पर, गुरू दरवाजे पर,
पत्नी नौकरी करे, पति घर पर,
ल का घरजमाई, बहू मैके,
दादा रहे इधर, दादी रहे उधर,
नीम की दातुन, टूथ-पेस्ट अपनाकर

विदेशियों को पैटर्न देकर,
खादी-कुर्ता, जाकिट पहनकर,
कहने लगे हैं ;
भारत की संस्कृति के
हैं हम पहरेदार।

****

# स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

| | |
|---|---|
| अनमोल हास्य क्षण | ( नाटक-संग्रह ) |
| जीवन के रंग | ( काव्य-संग्रह ) |
| दर्दे-ज़ुबाँ | ( नज़्म व ग़ज़ल संग्रह ) |
| आज का पुरुष | ( कहानी-संग्रह ) |
| जीवन-निधि | ( काव्य-संग्रह ) |
| आत्म-गुंजन | ( आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत ) |
| हास-परिहास | ( हास्य कविताएँ ) |
| ज़ज़्बातों का सिलसिला | ( काव्य-संग्रह ) |
| The Galaxy Within | (A collection of English poems) |
| अनुभूतियाँ | ( काव्य-संग्रह ) |
| काव्य-वृष्टि | ( संकलन एवं संपादन ) |
| पूरब-पश्चिम | ( आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह ) |
| बौछार | ( संकलन एवं संपादन ) |
| काव्य हीरक | ( संकलन एवं संपादन ) |
| संजीवनी | ( स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख ) |
| उपनिषद् दर्शन | ( अध्यात्मिक ) |
| काव्य-धारा | ( संकलन एवं संपादन ) |
| काव्यांजलि | ( काव्य-संग्रह ) |
| अनोखा साथी | ( कहानी-संग्रह ) |

## प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित